

खण्ड 3 सौन्दर्य तत्व

THE PEOPLE'S
UNIVERSITY



इकाई 12 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललित कला—वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला

इकाई की रूपरेखा

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की प्रस्तावना
- 12.3 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप —वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला
- 12.4 सारांश
- 12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 12.6 बोध प्रश्न/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप :

- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साधन रूप में वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला के बारे में जान सकेंगे।
- वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला जैसी ललित कलाओं के बारे में जान सकेंगे।
- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित विस्तृत दृष्टिकोण का विकास करने में समर्थ होंगे।
- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित ललित कलाओं को अपने शब्दों में व्यक्त कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

सौन्दर्यशास्त्र शब्द का यदि अंग्रेजी भाषा के Aesthetics शब्द से अनुवाद किया जाय तो निम्न बातों को ध्यान में रखना अति आवश्यक है :—यह अंग्रेजी Philosophy of fine Arts (ललितकलाओं का दर्शन) नहीं है जो कि हीगेल के अनुयायी मानते हैं क्योंकि हीगेल के अनुसार fine arts (ललितकलाएँ) पाँच हैं, परन्तु भारतीय मत के अनुसार स्वतन्त्र कलाएँ तीन ही हैं। इसका अर्थ Philosophy of beautiful and sublime (सौन्दर्य एवं भव्यता का दर्शन) भी नहीं है, जैसा कि काण्ट के मत के अनुसार होता है जिन्होंने 'क्रिटिक आफ् जजमेण्ट' में सौन्दर्य एवं भव्यता का बहुत विद्वत्पूर्ण विवेचन किया है क्योंकि वे प्राकृतिक पदार्थों को सभ्यता के उदाहरण रूप में उपन्यस्त करते हैं। इसका अर्थ Principles of Art (कला—सिद्धान्त) भी नहीं है क्योंकि इसका विषय समस्त ज्ञात कलाओं के सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं है। इस शब्द का वह व्यापक अर्थ भी नहीं है जिसमें 'एस्थेटिक्स' के इतिहास को लिखने वाले बोसाकेट और क्रोचे आदि ने इस शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि उन्होंने स्वलिखित पुस्तकों में साक्रेटीस से लेकर उनके समय तक के लेखकों से प्रकृतिगत सौन्दर्य एवं विभिन्न कलाओं की कृतियों के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं उन सबको यथोचित स्थान दिया है।

उपर्युक्त कारणों को मन में रखते हुए यदि हम एस्थेटिक्स के लिए आधुनिक कलाचिन्तकों द्वारा प्रयुक्त 'ललितकलादर्शन', 'सौन्दर्यदर्शन', 'सौन्दर्यशास्त्र' आदि शब्दों पर दृष्टि डालें, जो कि ऊपर लिखित अंग्रेजी शब्दों के अनुवादमात्र हैं।

स्वतन्त्रकलाकृतियों में जो सौन्दर्य व्यक्त हुआ है, उसका स्वस्वरूप क्या है ? उसकी रचनाविधि क्या है ? और उसका प्रभाव अपने उत्कृष्टतम रूप में क्या होता है ? ये प्रश्न प्रतिपाद्य से दृढ़ रूप में सम्बन्धित हैं। भारतीयशास्त्रानुसार उनका वैज्ञानिक विवेचन तथा कलाकृतियों की वैज्ञानिक रचनाविधि का प्रदर्शन भी है। इसी कारण इसका नाम स्वतन्त्र कलादर्शन नहीं अपितु 'स्वतन्त्र कलाशाखा' रखा गया है। तथ्य तो यह है कि इस समय पाश्चात्य देशों में भी कलाओं के वैज्ञानिक विवेचन की चर्चा हो रही है और थामस् मुनरो आदि विद्वानों ने Aesthetics as a Science इत्यादि नामक पुस्तकें भी लिखी हैं।

अतएव प्रारम्भिक रूप में इतना समझ लेना आवश्यक है कि 'स्वतन्त्र— कलाशास्त्र' परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में सहृदय के सामने उपस्थित कर उसके सत्य रूप को अभिव्यक्त करने वाली कलाओं का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन है। इसका अर्थ अवधानपूर्वक देखना से है (दर्शनेऽपि सि० कौ० २०४) सम उपसर्गपूर्वक इस धातु का अर्थ गिनना, संकलन करना होता है। इस अर्थ के आधार पर 'संख्यान्' शब्द का अर्थ मनन, चिन्तन एवं ध्यान भी होता है। इसी अर्थ में महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग के चालीस श्लोक में इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार से किया है।

ताप्सरोगीतिरपि उस्मिन् हरु प्रसंख्यानपरो बभूव

'उस समय केवल शिव ही दिव्य अप्सराओं के गीतों को सुन कर भी 'अनुसन्धान' में लगे रहे।'

इस प्रकार से 'कला' शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण ध्यानदृष्टि से देखना, गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिन्तन करना एवं स्पष्ट रूप से प्रकट करना है इसलिए यह शब्द ही स्वयं कलाकृतियों के उत्पादन के उन मूलभूत नियमों को संकेतरूप में बताता है जिन पर कलाकृतियों की उत्पत्ति तथा उनकी समीचीन विवेचना निर्भर है। कलाकृतियों के उत्पादन के ये मौलिक नियम 'संकलन', 'चिन्तन' एवं 'स्पष्ट अभिव्यक्ति' करना हैं।

सौंदर्य की अभिव्यक्ति के रूप में संगीत कला और काव्य कला प्रमुख माध्यम हैं।

संगीत कला का उल्लेख सर्वप्रथम वेदों में किया गया है। वेदों में तीन प्रकार के वाद्य यंत्रों का वर्णन किया गया है। आघात से बजने वाले जैसे— ढोल, तार से बनाए हुए जैसे वीणा एवं वायु के संचार से बजने वाले जैसे बांसुरी, वेद मंत्र स्वयं यह प्रमाणित करते हैं कि वैदिक युग में संगीत का बहुत आदर था। वाद्य एवं गेय दोनों रूप में संगीत का उल्लेख किया गया है। एक वाद्य का नाम कर्करी था। जो कि संभवत वीणा के समान थी।

सामवेद में गान हैं। इनके गान का प्रकार स्वर संकेतों से प्रकट किया गया है। अर्चिक पाठ को गान में लाने के लिए परिवर्तित किए गए हैं। उसमें सात स्वरों का संकेत दिया गया है।

अत्यंत प्राचीन भारतीय संगीत विशद वर्णन सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है। जो परवर्ती काल से लेकर आज तक भारतीय संगीत के लिए आधार हैं संगीत कला के भारतीय उत्कृष्ट उदाहरण आचार्य शंकरकृत सौन्दर्यलहरी में एवं मार्कण्डेय पुराण के अंतर्गत श्री दुर्गासप्तशती में परिलक्षित होते हैं।

12.2 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की प्रस्तावना

कला ही जीवन है। कला का ज्ञान, मानव के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है, यह मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास करके उसे पशुत्व से उपर उठाती है। भर्तृहरि का लिखा हुआ यह प्रसिद्ध श्लोक मानव जीवन में कला के महत्व पर प्रकाश डालता है—

साहित्य संगीत कला विहीनः

साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः।।

जीवन में सत्य, शिव और सुंदर से साक्षात्कार कराने में इसका अमूल्य योगदान है। आत्मसंतोष एवं आनंद की अनुभूति भी इसके ज्ञानार्जन से ही होती है और इसके मंगलकारी प्रभाव से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। मानव का विवेकशील प्राणी होना यह प्रमाणित करता है कि वह सृष्टि की श्रेष्ठतम कलाकृति है। अपने जन्मकाल से ही मानव, जीवन की दो भिन्न प्रकार की विचारधाराओं पर चिंतन करता आया है। एक विचार का सीधा सम्बन्ध जीवन के स्थूल पक्ष से है तो दूसरे का सीधा सम्बन्ध जीवन के सूक्ष्म पक्ष से है। यह सच है कि ये दोनों विचार ही मानव जीवन के कर्मक्षेत्र के प्रेरणा स्रोत बने। जहाँ एक ओर आदिकाल से ही मानव जीवन—निर्वाह के लिए स्थूल आवश्यकताओं की ओर प्रयत्नरत रहा, वहीं दूसरी ओर प्रकृति में व्याप्त सौंदर्य से अभिभूत होकर उसे और अधिक सुंदर बनाने के लिए प्रयास भी करता रहा। उसके प्रयास को ही उस युग की कला कहा जा सकता है।

प्राचीन काल के ग्रंथों में कला विषयक चर्चाएं और प्राप्त कला—सामग्री से यह सिद्ध होता है कि मानव जीवन में सदा ही कला की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आदिम काल से ही मनुष्य हथियारों के गठन में निरंतर सौंदर्य का विकास करता आया है। उपयोग में आनेवाले मिट्टी के बर्तनों पर चित्रकारी और मिट्टी से पुती दीवारों पर तोता—मैना बनाता आया है। मानसिक तृप्ति और अपूर्व आनंद के लिए मानव अपने मन में अनेक कल्पनाओं का संसार रचता रहता है, जिसे बाद में फिर मूर्त रूप में ढाल लेता है।

सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर अपनी भावना को अभिव्यक्त करना ही कला है। अगर यह कहा जाए कि मानव जीवन की चिरसंगिनी कला है तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि यह मानव जीवन के साथ अटूट रूप में बँधी हुई है। मनुष्य का तरीके से उठना—बैठना, चलना—बोलना, खाना—पहनना, सजना—सँवरना आदि भी तो एक प्रकार की कला ही है। अगर ध्यान देकर देखा जाए तो सुधर या सलीके से किया गया हर काम मानव को आकर्षित करता है। उस में एक प्रकार की सुंदरता होती है। लेकिन जब वही काम फूहड़ तरीके से किया जाता है तो वह मन को आकर्षित नहीं करता।

कला अपने अनेक सुंदर रूपों में मानव जीवन के रोम—रोम में बसी हुई है। कहीं वह प्रकृति की प्रचण्ड शक्तियों का प्रतीक बनकर मानव जीवन को सहारा देती है और चित्रकला के रूप में उसके द्वारा रची जाती है तो कहीं अपनी रमणीयता और करुणा से उसे भाव—विभोर कर हृदय में कविता की धारा बहा देती है और कहीं हवा के मंद—मंद झोकों की आवाज और झील—झरनों की झर—झर उसके दिल से कोयल की कूक बन झरने लगती है। इस तरह जीवन के साथ कलाकृति और उसके सौंदर्य का

गहरा तालमेल है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।

वैसे तो अपने सौंदर्यपूर्ण तत्व के कारण मनुष्य का प्रत्येक क्रियाकल्प कला कहलाता है, किंतु वास्तविक कला का जन्म तब हुआ जब मानव समाज के वर्ग समुदाय ने विभिन्न भावावेगों से प्रभावित होकर अपने अनुभवों को कलात्मक रूप में अभिव्यक्त किया। काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि इसी के अभिव्यक्त रूप हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में कलाकृति के लिए दो बातों को आवश्यक बताया गया है। वह है कौशल और छंद अर्थात् लय। इस तरह किसी भी चीज की कौशल युक्त तरीके से की गई भावपूर्ण छंदमय अभिव्यक्ति ही कला है।

प्राचीन कला में वही नागरिक सुसंस्कृत कहलाता था, जिसे कलाओं का भी ज्ञान होता था। एक प्राचीन बौद्ध ग्रंथ में राजकुमार सिद्धार्थ और यशोधरा के विवाह के बारे में एक रोचक कथा है – राजकुमार सिद्धार्थ अनेक सुंदरी कन्याओं में से जब यशोधरा को पसंद करते हैं तो राजा शुद्धोधन यशोधरा के पिता दंडपाणि, जो एक सामान्य नागरिक थे, के पास अपने पुत्र का विवाह प्रस्ताव लेकर जाते हैं। इस प्रस्ताव से यशोधरा के पिता दंडपाणि खुश तो होते हैं, लेकिन वे कहते हैं कि अपनी कुल मर्यादा के अनुसार मैं अपनी कन्या का विवाह अशिल्पज्ञ राजकुमार के साथ करने में असमर्थ हूँ। और तब राजकुमार सिद्धार्थ को नवासी प्रतियोगिता जीतकर सुसंस्कृत और शिल्पज्ञ होने का प्रमाण देना पड़ा था।

इस दृष्टांत से यह पता चलता है कि प्राचीन समाज में कला का कितना ऊँचा स्थान था। यह अपने सौंदर्य का प्रभाव सीधे दर्शकों के हृदय पर डालती है। अपने इसी गुण के कारण प्राचीन काल से ही कला धर्म और विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक सशक्त माध्यम बनी हुई है। विभिन्न धर्मों के प्रचार-प्रसार के लिए मिथकों आख्यानों, देवी-देवताओं, बिंबों, प्रतीकों आदि के रूप में चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्य कला का प्रयोग किया गया है।

भारतीय इतिहास में गुप्त सम्राटों के राज्यकाल को स्वर्ण युग कहा जाता है। वह इसलिए कि उस युग में भारत की राजनीतिक प्रभुता के साथ-साथ साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला की समाज में पुनः अनुपम प्रतिष्ठा हुई क्योंकि गुप्त युग से पहले की जो प्राचीन भारतीय संपदा विदेशियों के आक्रमण से नष्ट हो गई थी, वह गुप्त सम्राटों के संरक्षण में पुनः विकसित हुई।

आज भी हमारे देश की नारियाँ अपने व्रत-संस्कारों और जीवन के मंगलकारी अवसरों पर नर-नारी और पशु-पक्षी के चित्र अपनी भावना और क्षमता के अनुसार बनाती हैं। इसी सिलसिले में कला-संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान का अत्यंत ही उर्वरभूमि मिथिला की कला को लिया जा सकता है। यहाँ कला के विविध पक्षों को धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के क्रियाकल्पों से प्रत्यक्ष रूप में जोड़कर उसे जीवंतता दी गई है इसलिए मैथिल नारी ललितकला की सभी विधाओं में जन्मजात सिद्धहस्त होती है। मैथिली इतिहासकार डॉ. उपेंद्र ठाकुर ने मिथिला चित्रकला में नारी वर्ग की सिद्धहस्तता को देखकर ही तो कहा है – “मिथिला की महिलाएँ जन्मजात पिकासो होती हैं।” यहाँ तक की समीक्षकों ने इसे जीवित चित्रकला की संज्ञा भी दी है।

अंतर्राष्ट्रीय जगत में नेपाल की पहचान कायम करने में यहाँ की मिथिला कलाकृतियों का प्रमुख हाथ है। आजकल इसने व्यवसाय का रूप ले लिया है। व्यवसायिक चित्र बनाने की होड़ में लोग इसकी सूक्ष्मता और प्रतीकात्मकता के मर्म को नहीं पहचान पाते हैं। जबकि सत्य तो यह है कि सामान्य रूप में मिथिलावासी की जीवनशैली को

प्रतिबिंबित करने वाली इस कला में प्रचुर मात्रा में प्रतीक पाये जाते हैं। इस चित्रकला का प्रयोग पूजा करते वक्त जमीन पर बनाई जाने वाली अल्पना, कोहबर अर्थात केलिगृह में नव वर-वधू की भावना को जागृत कराने के उद्देश्य से प्रतीकात्मक रूप में बनाए जाने वाले चित्र, दीवारों पर अंकित देवी-देवताओं का चित्र आदि रूप में होता है।

वि. सं. २०४६ साल में क्लयर बुर्केट नामक एक अमेरिकी महिला इस कला से अत्यधिक प्रभावित हुई और उन्होंने इसे व्यवसायिक रूप देने की कोशिश की। इसके अलावा यूएनडीपी और दक्ष मैथिल महिलाओं ने भी जनकपुरधाम में जनकपुर नारी विकास केन्द्र की स्थापना कर इसके व्यवसायिक रूप को आगे बढ़ाया। आज मिथिला पेंटिंग में सिद्धहस्त लोग शोहरत के साथ-साथ यथेष्ट मात्रा में धनार्जन भी कर रहे हैं। अतः कला की सौंदर्यानुभूति हमें सिर्फ मानसिक तृप्ति देकर आनंदित ही नहीं करती बल्कि आर्थिक संबल भी देती है। भौतिकतावादी मार्क्स ने भी जीवन के इस सौंदर्य से भरे कलात्मक पहलू की अवहेलना नहीं की वरन् इसे जीवन का अविभाज्य हिस्सा माना है।

कोई भी कलाकृति चाहे वह चित्र हो या काव्य, अभिनय, संगीत, नृत्य आदि; वह अपने सौंदर्य से हमारे अंतर्मन पर ऐसा प्रभाव डालता है कि उससे शारीरिक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं जिससे वह हमें पहली ही नज़र में आत्मविभोर कर परमसुख और संतोष प्रदान करता है। महान दार्शनिक अरस्तु ने भी कला के इस गुण को स्वीकार कर नाटकों के संदर्भ में कहा है कि नाटक का मुख्य कार्य तो हमारी भावनाओं का शुद्धिकरण है अर्थात् आत्मा की शुद्धि। सौंदर्य का सामान्य अर्थ बाह्य सौंदर्य या रूप सौंदर्य हो सकता है, पर इसका वास्तविक अर्थ आत्मिक सौंदर्य ही है। ग्रीक लोगों का भी विश्वास है कि सौंदर्य ही नैतिक भलाई है और यह मानव के आध्यात्मिक कल्याणकारी आचरण में निहित है। इसी तरह महान कवि कालिदास भी सौंदर्य का अर्थ जीवन में सदाचार का अभ्युदय करना मानते हैं।

इस तरह हम कह सकते हैं कि बिना सौंदर्य की कलाकृति की कल्पना करना निरर्थक है क्योंकि जिस वस्तु में सौंदर्य नहीं है वह कलाकृति कहलाने लायक नहीं है। सौंदर्य और कलाकृति एक दूसरे के पूरक हैं। अतः सौंदर्य है वहीं कला है और जहाँ कला है वहीं सौंदर्य है।

12.3 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप – वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला

सौन्दर्य या साहित्य के आश्रय से व्यक्त होने वाली कलाएँ ही ललित कला (Fine Arts) कहलाती हैं अर्थात् वह कला जिसके अभिव्यंजन में सुकुमारता और सौन्दर्य हो जिसका लक्ष्य आनंद (सुख) हो जैसे – गीत, संगीत, नृत्य, नाट्य एवं विभिन्न प्रकार की चित्रकलाएँ जैसे वास्तुकला आदि।

1. वास्तुकला

वास्तुकला ललितकला की एक शाखा और सभी कलाओं का केन्द्र स्वीकार की जाती है। वर्तमान में मनुष्य के लिए वास स्थान बनाने की कला है। इसका अङ्गहीन (Inorganic) प्रकृति को ऐसे रूप में गढ़ना है कि एक बालक के रूप मन के साथ ही इसकी उपादान सामग्री यांत्रिक (mechanical) अंगहीन भूतपिण्ड (mass) है इसका रूप अंगहीन प्रकृति का रूप है परन्तु यह सममिति

(symmetry) मीट्रिक सम्बन्ध के अनुसार सुव्यवस्थित होता है। इसकी कृतियां विदारक इति (spiritual idon) के साथ बाह्य सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। बाह्य प्रकृति की देवयोनि प्रथा को मिटाकर दिव्यशक्ति के निवासार्थ एक स्थान बनाने के लिए यह वास्तुकला बाह्य प्रकृति से संघर्ष करती है। आन्तरिक ईश्वरीय प्रेरणा (Inner aspiration) की प्राप्ति एवं दिव्य शक्ति को एकाग्र करने के लिए यह देवों की रचना करती है। यह ही भूतपदार्थ को संगठित करती है, सममिति के नियम के अनुसार उसे व्यवस्थित करती है और विदारमा के साथ इसको सम्बन्धित करती है। दिव्यशक्ति के साथ वास्तुकला की कृतिका सम्बन्ध होता है ठीक इसी कारण से यह (वास्तुकला) प्रतीकात्मक होती है।

2. मूर्तिकला

मूर्तिकला की कृतियों में उस आन्तरिक आत्मा को शरीर प्रदान किया जाता है जिसकी ओर वास्तुकलाकृति केवल-संकेत भर ही करती है। यद्यपि वह उपादान जिसमें यह सत चित आनन्दस्वरूप उस शक्ति को इन्द्रिययोग्य रूप में निरूपण करती है वही निश्चेष्ट भूतपिण्ड है जो वास्तु कला का होता है फिर भी यह (मूर्तिकला) अन्तर्वस्तु और रूप का सामंजस्य इस प्रकार से करती है कि एक दूसरे से अधिक दोनों में से कोई भी अंश प्रधान नहीं होता। यह शास्त्रीय (classical) कोटि की कहा है। इसके पास इन्द्रियबोध्य रूप में प्रत्येक चिदात्मक शक्ति को प्रकट करने की शक्ति है। यह अपने उपादान से कलाकृति की रचना केवल उसके यांत्रिक गुण के अनुसार नहीं करती, न उसकी रचना अंगहीन भूत दम्य के अनुसार करती है और न तो उसकी रचना रंग से सर्वथा उदासीन होकर ही करती है वरन् उसको मानवीय शरीर की सर्वोत्कृष्ट आकृति में परिवर्तित कर देती है। यह चिदात्मा को भावावेग में विक्षिप्त रूप में नहीं वरन् स्थिर और शान्त रूप में प्रकट करती है। यह कला आन्तरिक चिदात्म के केवल एक को ही प्रकट कर सकती है।

3. चित्रकला

मूर्तिकला के पश्चात् चित्रकला की गणना होती है। यह स्वच्छन्द (romantic) कोटि की कलाओं में प्रथम कला है। यह अपने रूप पूर्व अन्तर्वस्तु की उपादान सामग्री के रूप में चतुर्ग्राह्य (visible) का उपयोग करती है। चतु रंगों की विभिन्नता का सहारा लेकर यह दृश्य विशिष्ट व्यक्ति का चित्रण करती है। यह कला प्रकाश (light) का उपयोग उसके सरल रूप में करती है और प्रकाश विरोधी अन्धकार में उसका विशिष्टीकरण करती है। वास्तुकला से चित्रकला का यह भेद है कि निश्चेष्ट भूत द्रव्य की बाह्य यांत्रिक विलक्षणता (mechanical distinction) इसके लिए अनावश्यक है। मूर्तिकला के साथ इसका यह भेद है कि दिक् में इन्द्रिय- बोध्य विस्तार (extension) के सभी आकार परिमाणों (dimensions) की भी चित्रकला को आवश्यकता नहीं है। यह इन्द्रियबोध्य भूततन्त्र के ठोस विस्तार से भी मुक्त है। यह केवल सतह के आकार परिमाण से ही सीमित होती है। इस चित्रकला की विषयवस्तु के अंशों का विशिष्टीकरण अत्यधिक विस्तार से कर सकते हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में जो कुछ भी तरंगित होता है, चाहे वह संवेदना हो प्रतिनिरूपण अथवा प्रयोजन हो, और वह सब कुछ जिसको कार्य रूप में परिणत करने की शक्ति मनुष्य में है चित्रकला की विषयवस्तु बन सकता है। अन्तःकरण की सर्वोच्च ज्ञाप्ति से लेकर प्रकृति की सर्वाधिक विशिष्ट वस्तु तक सभी विशिष्ट वस्तुओं को चित्रकला में प्रदर्शित कर

सकते हैं। प्राकृतिक दृश्य को चित्रकला के लोक में तभी स्थान मिल सकता है जब वह ऐसे किसी चिदात्मक तत्व अथवा हित की ओर संकेत करता है (alludes) जो इसे (प्राकृतिक दृश्य को) मानवीय संवेदना और विचार से सम्बन्धित कर सकता है।

एक चिदात्मक एकता है और उसका साक्षात्कार केवल आध्यात्मिक ज्ञान से चिदात्मा के अन्दर ही किया जा सकता है। आध्यात्मिक ज्ञान के साधन से प्राप्त यह नूतन अन्तर्वस्तु इन्द्रियबोध्य निरूपण के साथ इस प्रकार से आबद्ध नहीं है कि परकथित (इन्द्रियबोध्य निरूपण) से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इस साक्षात इन्द्रियबोध्य अस्तित्व से यह मुक्त किया जाता है।

संक्षेपतः यह कह सकते हैं कि स्वच्छन्द क्रमदशा में कला का उद्देश्य उस आध्यात्मिक क्रिया का स्वतन्त्र और निश्चित रूप में निरूपण है, जो चित्स्वरूपिणी बुद्धि के आन्तरिक संसार में आध्यात्मिक क्रिया के रूप में अवगत होती है। इस प्रकार के उद्देश्य के अनुसार कला केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए क्रियानिष्ठ नहीं हो सकती है। कला को स्वतन्त्रता पूर्वक उस आन्तरिक जीवन में प्रवेश करना चाहिए जो उसके उद्देश्य से इस प्रकार से एकीभूत हो जाता है जैसे कि वह स्वयं उस उद्देश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षकर्ता एवं एक बाह्य विषयवस्तु का भेद नष्ट हो जाता है। प्रदर्शित अन्तर्वस्तु आत्मा के जीवन का एक अंश होता है। अन्य शब्दों में कहें तो यह कहेंगे कि यह कला अपने को आत्मा की घनिष्टता (intimacy) को, हृदय को अर्थात् उस भावावेगात्मक जीवन को सौंपती है। जो स्वयं चिदात्मा (spirit) का माध्यम है।

वास्तु प्रतीकात्मक कला है। मूर्तिकला शास्त्रीय (classical) कला है एवं चित्रकला, संगीतकला एवं काव्यकला स्वच्छन्द कलाएं हैं। अपने निम्नतम रूप में परतश्व को प्रकट करने के लक्ष्य की पूर्ति कला नहीं कर सकती। इसका क्रमिक उन्नयन होता है। इस उन्नयन के पथ पर यह चिदात्मा के विभिन्न रूपों को पार करती है। नाटक में इस उन्नयन का अन्त हो जाता है। काव्य सर्वोत्कृष्ट कला है और नाटक सर्वोत्कृष्ट काव्य है परन्तु इसी कारण से साथ ही साथ काव्यकला सब कलाओं का विलयीकरण भी है एवं चिदात्मा के उच्चतर स्वरूप अर्थात् 'धर्म' रूप अभिव्यक्त होने के लिए एक मध्यवर्ती दशा है।

बोध प्रश्न / अभ्यास प्रश्न

क) बोध प्रश्न

1. मूर्तिकला के पश्चात् किसकी गणना होती है ?
2. सौन्दर्यशास्त्र शब्द की उत्पत्ति किस भाषा से हुई है ?
3. स्वच्छन्द कोटि की कलाओं में प्रथम कला कौन सी है ?
4. भरत मुनि के प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम क्या है?
5. सौन्दर्य या साहित्य के आश्रय से व्यक्त होने वाली कलाएँ क्या कहलाती हैं ?
6. सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर अपनी भावना को अभिव्यक्त करना क्या है?

ख) अभ्यास प्रश्न

1. सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप — वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला पर विस्तृत लेख लिखिए।

2. वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला की साम्यताओं और विषमताओं पर विचार कीजिए।

12.4 सारांश

सौंदर्यशास्त्र स्वतंत्र कलाशास्त्र स्वतंत्र कलाओं का तात्त्विक विवेचन दर्शन एवं विज्ञान है। भारतीय दृष्टिकोण में कलाओं का सर्वप्रथम विभाजन कामशास्त्र के लेखक वात्स्यायन के पूर्व ब्रभु के पुत्र पांचाल ने मूल एवं अंतर कलाओं में किया था। उसके उपरान्त भरत मुनि ने अपने प्रसिद्ध नाट्यशास्त्र ग्रंथ में कलाओं का विभाजन मुख्य एवं गौण दो रूपों में किया था। परंतु भारत के अध्यात्मवादी चिंतकों ने कलाओं का विभाजन स्वतंत्र तथा आश्रित अथवा उपयोगिनी कलाओं के रूप में किया है इस विभाजन के अनुसार स्वतंत्र कलाएं यह हैं जो मानव जाति के उपयोग में आने वाली विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न कर उसकी सुख वृद्धि में सहायक होती हैं।

भारतीय दृष्टिकोण से स्वतंत्र कलाओं की संख्या 3 है— काव्य ,संगीत एवं वास्तु। इन्हीं 3 कलाओं से परतत्त्व के इंद्रिय ग्राहक रूप के उपस्थापन द्वारा उसके सत्य स्वरूप की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है । भारतीय आचार्य ने काव्य, संगीत तथा वास्तु कलाओं में ही ऐसी कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति मानी है, जिससे परब्रह्म भी इंद्रियग्राही रूप में सहृदय को अनुभव करा सकती है।

वास्तु शब्द की उत्पत्ति व धातु से है जिसका अर्थ किसी एक स्थान पर निवास करना है परंतु चाणक्य ने स्वीकृत अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग अत्यंत विस्तृत रूप में किया है। महर्षि चाणक्य के अनुसार गृह क्षेत्र, वाटिका, आदि प्रत्येक प्रकार की इमारत सभी वास्तु हैं । अतः वास्तुकला का अर्थ गृह आदि का निर्माण हो गया अतः वास्तु शास्त्र का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय मानव गृहों, देव मंदिरों, बांध ,सेतु एवं प्रत्येक प्रकार के भवन आदि के निर्माण के उपायों की व्याख्या करना यही वास्तुशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है, ऐसा आपने जाना।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मूर्तिकला के प्रसंग में निम्न बातों का उल्लेख किया गया है वास्तु मूर्तिकला का प्रतिपाद्य विषय देवों आदि की मूर्ति निर्माण के उपायों की व्याख्या करना है जैसे ब्रह्म रजोगुण स्वरूप है तो उनके शरीर का रंग लाल है इत्यादि।

भारतवर्ष में काव्य, संगीत और वास्तु 3 कलाओं को ही परब्रह्म को प्रकट करने वाली माना गया है। अतः भारतीय मतानुसार यही 3 कलाएं स्वतंत्र हैं आश्रित कलाएँ हैं। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि मूर्तिकला एवं चित्रकलाओं का निरूपण वास्तुकला प्रतिपादक ग्रंथों में ही किया गया है।

चित्रकला का वर्णन पृथक रूप में नहीं है फिर भी मूर्तियों आदि की सफल रचना करने के लिए चित्रकला की रचना विधाओं का ज्ञान होना अनिवार्य है।

12.5 उपयोगी पुस्तकें

1. पाश्चात्य स्वतंत्र कलाशास्त्र — कांति चंद्र पाण्डेय
2. भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 1, 2 बलदेव उपाध्याय, भा. व. उ. प्रसाद परिषद् काशी वि. सं. 2007

3. भारतीय सौन्दर्यदर्शन, ब्रजमोहन चतुर्वेदी, मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, मध्यप्रदेश, 1998
4. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, अष्टम खण्ड काव्यशास्त्र, उ.प्र.सं.सं.लखनऊ,
5. अभिनवभारती के तीन अध्याय, अभिनवगुप्त, सम्पा. नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दि.वि. दिल्ली प्र.स. 1960
6. औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र व्याख्या. ब्रजमोहन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982
7. काव्यप्रकाश मम्मट, सम्पा. एवं व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
8. काव्यादर्श, दण्डी, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. क्षेमेन्द्रकुमार गुप्त, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1973
9. काव्यालंकार भामह, सम्पा. एवं व्याख्या देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1985
10. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. वेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,
11. काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, सम्पा. एवं व्याख्या डा. रामानन्द शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2000
12. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, विश्वेश्वरकविचन्द्र सिद्धान्त शिरोमणि ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी, 1998
13. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय, चौ.सं.संस्थान, वाराणसी, 1980
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम् एक अध्ययन , काशीनाथ द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
15. ध्वन्यालोक लोचन अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक की टीका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1911
16. वक्रोक्तिजीवितम्, कुन्तक, राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2007
17. व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1987

12.6 बोध प्रश्न/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क) बोध प्रश्नों के उत्तर

1. चित्रकला
2. यूनानी
3. चित्रकला
4. नाट्यशास्त्र

सौंदर्य तत्व

5. ललित कला

6. कला

ख) अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखेंगे।



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 13 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकला : संगीतकला और काव्यकला

इकाई की रूपरेखा

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं का अन्तः संबंध
- 13.3 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में संगीत कला
- 13.4 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में काव्यकला
- 13.5 सारांश
- 13.6 शब्दावली
- 13.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 13.8 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप—

- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं जैसे स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य तथा संगीत के अन्तः सम्बन्ध से परिचित हो पायेंगे।
- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में संगीतकला से परिचित हो पायेंगे।
- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में काव्यकला से परिचित हो पायेंगे।
- इसमें प्रयुक्त तकनीकी शब्दावली के बारे में जान सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

कला के अनेक पहलू तथा अनेक दिशाएँ हैं, इन विविध दिशाओं में अनेक विशेषताएँ हैं। इन विविधताओं में कला क्या है? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जैसे कि हम यह पूछते हैं कि जीवन क्या है? कला के संदर्भ में दो प्रश्न उठते हैं—कला, कला के लिए है तथा कला जीवन के लिए है। कला और जीवन को पृथक् नहीं किया जा सकता। कला में प्रत्येक स्थान एवं काल में जीवन स्पन्दन छिपा है जिसकी प्रस्तुति में विभिन्नता हो सकती है।

इस इकाई 'सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकला : संगीतकला और काव्यकला' में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं जैसे स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य, संगीत के अन्तः सम्बन्ध, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में संगीत कला, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में काव्यकला का वर्णन किया जायेगा।

13.2 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं का अन्तः संबंध

सभी कलाओं में कलाकार के हृदय में अपनी कला के प्रति एक पवित्र भावना होती है जो आध्यात्मिकता से परिपूर्ण होती है। प्रत्येक कला का उद्देश्य आत्मोन्नति, मोक्ष प्राप्ति, सामाजिक उत्कर्ष तथा लोकरंजन से जुड़ा होता है। आत्मोन्नति एवं मोक्ष प्राप्ति को कला का लक्ष्य मानने से उसका संबंध स्वतः ही मानव के उस आत्मिक एवं मानसिक बल से जुड़ जाता है यही कारण है कि कला को विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम कहा गया है।

सौन्दर्य सभी ललित कलाओं का नैसर्गिक गुण है। प्राचीन काल से ही मनुष्य ललित कलाओं के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति करता रहा है। सौन्दर्य एक ईश्वरीय गुण है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है विश्व के समस्त सौन्दर्य में मेरा ही तेज विद्यमान है। ललित कलाएँ मनुष्य की नैसर्गिक सौन्दर्याभिव्यक्ति का आधार हैं। समस्त कलाओं की अभिव्यक्ति का प्रेरणा स्रोत मनुष्य की सौन्दर्य प्रियता ही है। ललितकलाएँ मनुष्य की सौन्दर्य चेतना की प्रतीक हैं।

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने कला को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है। 'प्लेटो के अनुसार, कला सत्य की अनुकृति है। कला में हम ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि को ही सत्यापित करते हैं। अरस्तू ने कहा है कि कला अनुकरणीय है। कला में सामान्य प्रत्यय को रूपायित किया जाता है क्योंकि विशिष्ट की अनुकृति उचित तथा संभव नहीं है। प्लाटिनस ने कला को 'ऐन्द्रिय कल्पना न मानकर बौद्धिक कल्पना' कहा। बाउमगार्टन ने कहा कि 'कला प्रकृति की अनुकृति है। हीगेल के अनुसार, कला भौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है। क्रौंचे ने कला को बाह्य प्रभाव की अभिव्यक्ति' माना। फ्रेडरिख नीत्शे ने कला को 'आत्माभिव्यक्ति' कहकर परिभाषित किया। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक स्तर पर कला की कल्पना का संपूर्ण क्षेत्र 'अर्धचेतन मस्तिष्क' की क्रिया माना। कलिंगवुड के अनुसार, 'कला जीवन की आधारशिला हैं, संपूर्ण जीवन के अनुभवों की समग्र अभिव्यक्ति है, व्यक्ति और समाज की चेतना की एक महत्वपूर्ण क्रिया है। रस्किन ने 'कला को ईश्वरीय कृति के प्रतिमान आह्लाद की अभिव्यक्ति' माना। टाल्सटॉय के अनुसार, 'अपने भावों को इस प्रकार अभिव्यक्ति करना कि प्रेक्षक में भी वही भाव उत्पन्न हो' कला है। हर्बर्ट रीड ने कला को 'क्रीड़ा' माना। लैंगर ने कलादर्शन की दृष्टि से भावन अर्थात् प्रभाव-पक्ष को महत्व दिया है तथा प्रभाव-पक्ष के विवेचन विश्लेषण को ही सौन्दर्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य विषय माना।

भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य और कला का समान भाव रस-तत्त्व एक ही माना है। भारत में कला शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है 'यथा 'कला' यथा शफ, मघ शृण स नयामति।' ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि 'अरूपदेव हित सुधानत्वात्' अर्थात् जो आंतरिक भावों को कलात्मक रूप से अभिव्यंजित करे, वही कला है। 'तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।' प्रथम शताब्दी में भरत मुनि ने कला की यथार्थवादी परिभाषा प्रस्तुत की। अभिनवगुप्त ने माना कि व्यंजना तथा ध्वनि रसानुभूति का स्वरूप तथा काव्यकला का लक्ष्य है। डॉ. श्यामसुन्दर दास के मतानुसार, जिस अभिव्यंजना में आंतरिक भावों का प्रकाशन तथा कल्पना का योग रहता है वही कला है। के.सी. पाण्डेय ने कहा कि 'कला वह मानवीय क्रिया है जिसका विशेष लक्षण गहन निरीक्षण, गणना अथवा संकलन करना, मनन-चिन्तन करना एवं स्पष्ट रूप से

प्रकट करना है।

पाश्चात्य कला दर्शन में कलाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है—उपयोगी कला तथा ललित कला। उपयोगी कला का संबंध शिल्पकला से था जिसमें उपयोगिता तथा नैतिकता अपेक्षित है। ललित कला आवश्यक नहीं है कि उपयोगी भी हो। ललित कला भावों की अभिव्यक्ति है जबकि शिल्प कला कौशल है। भारतीय कला विभाजन में उपयोगी तथा ललित कला का विभाजन कभी नहीं रहा।

समस्त ललित कलाएँ शैली, शिल्प, प्रेषणीयता आदि के माध्यम से भिन्न हो सकती हैं, किन्तु कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, प्रेषणीयता, विषय, विधान आदि सामान्य गुण सभी ललित कलाओं (स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य, संगीत आदि) में समान रूप से मिलते हैं। कला परम्परा में संगीत, काव्य तथा चित्रकला का अन्तः संबंध दृष्टिगत होता है। सौंदर्य एक ईश्वरीय गुण है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—विश्व के समस्त सौन्दर्य में मेरा ही तेज विद्यमान है। ललित कलाएँ मनुष्य की नैसर्गिक सौन्दर्याभिव्यक्ति का आधार हैं। समस्त कलाओं की अभिव्यक्ति का प्रेरणा स्रोत मनुष्य की सौन्दर्यप्रियता ही है। ललित कलाएँ मनुष्य की सौन्दर्य चेतना की प्रतीक हैं।

13.3 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में संगीत कला

सभी ललित कलाओं में अभिव्यक्ति के माध्यम की सूक्ष्मता के आधार पर संगीत को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। संगीत कला का सौंदर्य दिव्य है जहाँ संगीत है, वहाँ ईश्वर का वास है। भारतीय संगीत का आधार नाद है, जिसे नाद ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। यही आदिनाद 'ऊँ' सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय परम्परा में संगीत को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना जाता था। संगीत शास्त्रों में ब्रह्मा की प्राप्ति के लिये नादोपासना का मार्ग बताया गया है तथा इस सम्पूर्ण सृष्टि को ही 'नादात्मक' कहा गया है—

“न नोदन बिना गीतं न नादेन बिना स्वराः।
न नादेन बिना नृतं तस्मान्नादात्मकं जगत्॥

नादरूपोः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपा पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः॥”

अर्थात् नाद से ही श्रुति तथा श्रुति से स्वर की उत्पत्ति हुई है। स्वरों के विशिष्ट—संयोजन से राग का सृजन होता है। संगीत ग्रंथों में स्वर के लिए कहा है कि—‘श्रुत्यन्तर भावी यः स्निग्धोश्चरुणनात्मकः, स्वरो रंजयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्चयते’ तथा राग के लिये ‘योश्च ध्वनिविशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः, रंजको जन चित्ताना सः रागः कथितो बुधैः’ आदि परिभाषाएँ दी गयी हैं। इनसे यह विदित होता है कि स्वर में स्निग्धता, अनुरणन, प्रकाशमान, स्पष्ट व रंजकता निहित है और इन्हीं विशेषताओं युक्त स्वरों से राग की रचना होती है। स्वर रंजक होने के कारण स्वतः ही आनन्ददायी होते हैं। ये स्वर ही राग संगीत का स्रोत हैं अतः हम कह सकते हैं कि संगीत कला की नींव है सौन्दर्यतत्त्व पर आधारित है। संगीत में निहित रंजक तत्त्व ही सौन्दर्य का प्रतीक है। राग रचना में आरोह—अवरोह के रूप में ली गयी अनेक स्वर संगतियों में ‘काकु’ प्रयोग के साथ मधुर ध्वनि प्रवाह, स्वरात्मक लय तथा लयात्मक स्वर आदि ही मिलकर संगीत का निर्माण करते हुए उसमें निहित सौन्दर्य

तत्त्व का श्रुत्य रूप में अनुभव कराते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि स्वर व लय की विशिष्ट संयोजना द्वारा ही संगीत में सौन्दर्य का जन्म होता है क्योंकि भावों की अभिव्यक्ति में अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत कला का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। संगीत मात्र ध्वनि के सुन्दर संयोजन द्वारा ही सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति में सक्षम है। ध्वनि जब स्थिर नियमित स्पष्ट, मधुर एवं संगीतोपयोगी हो जाती है तब वह स्वर में परिणित हो जाती है। स्वर के शुद्ध तथा विकृत दोनों ही रूप संगीत में सौन्दर्याभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। राग भारतीय संगीत की अनुपम निधि है। राग स्वर वर्ण से अलंकृत विशिष्ट स्वरावली है जो रंजक तथा आनंदप्रद है। राग में सौन्दर्य के अनंत रहस्य निहित हैं। एक राग अनेक बार सुनने पर भी सुन्दर एवं मनोहारी प्रतीत होता है। राग भारतीय संगीतज्ञों की सुविकसित, परिष्कृत, सूक्ष्म सौन्दर्यभावना का प्रतीक है। राग का स्वर वर्ण से विभूषित 'ध्वनिविशेषस्तु' अंग उसके रूप सौंदर्य से संबंधित है तो उसका 'रंजकत्व' तत्त्व अंतःसौन्दर्य से संबंधित है। राग के विस्तार में स्वरों के विविध लगाव, आलाप तान, वादी, संवादी, विवादी स्वरों का उचित संयोजन, कण, मुर्की, मीड, खटका, गमक आदि अलंकरणों का प्रयोग, राग भाव के अनुसार ताल का सही निर्धारण तथा उचित लयों का प्रयोग उसके सौन्दर्य वृद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार 'संगीत कला और सौन्दर्यानुभूति' में डॉ. किरन शर्मा ने कहा है कि "लहरियों की अविरलता तथा स्वर, ताल, लय का अपूर्व संयोजन ही संगीत का सौन्दर्य आदर्श है जो सुनने वाले को विशिष्ट आनंदानुभूति कराता है, यही सौन्दर्यानुभूति है।" कलाकार द्वारा जब किसी राग की अवतारणा की जाती है तो कलाकार, कलाकृति एवं श्रोता इन तीनों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। गायक अथवा वादक अपनी कल्पना के सहारे रचना को सुन्दर स्वर लहरियों से संवारता है तथा विस्तारित करता जाता है तथा श्रोता अपनी मनःस्थिति के अनुसार उसका रसास्वादन करता जाता है। कलाकार की भावाभिव्यक्ति तथा श्रोता की भावानुभूति की इस प्रक्रिया के बीच में 'सौन्दर्य' अपना स्थान बना लेता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कलाकार के अन्तर्मन में स्थित सौन्दर्य की कल्पना का बाह्य सौन्दर्य के साथ सामंजस्य, निर्मित कलाकृति में उस सौन्दर्य का आविर्भाव तथा श्रोता के मन में सौन्दर्य का अनुभव इन तीनों (कलाकार, कलाकृति तथा सहृदय) के समन्वित रूप में ही सौंदर्य निहित है। कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा आनंद एवं वेदना दोनों प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। कोई श्रृंगारिक अथवा शांत रस से परिपूर्ण रचना यदि श्रोता के मन को आनंदित करती है उतना ही आनंद कोई विरह गीत या करुण रस से परिपूर्ण रचना भी प्रदान कर सकती है। उचित स्वर सन्निवेश भावों के अनुसार काकु प्रयोग श्रोता के चित्त को आह्लादित करने की क्षमता तथा कल्पना का प्रयोग किसी भी रचना को हृदयग्राही बना सकता है। संगीत रचना के बाह्य तथा आंतरिक दोनों स्वरूपों को उभारना व श्रोताओं को स्वर लहरियों के सागर में विहार कराना ही यदि कलाकार का लक्ष्य हो, और वह इसमें सफल हो तभी सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से वह उत्कृष्ट कला कही जा सकती है। वाद्य संगीत पदविहीन होने के उपरान्त भी स्वरों के सुनियोजित एवं सुन्दर संयोजन के कारण आनंदानुभूति के एक विशिष्ट वातावरण का निर्माण कर देता है। श्रोतागण तन्मय होकर उस वातावरण में विशेष सौन्दर्यात्मक तत्त्वों के निहित होने के कारण उसका रसास्वादन करने को बाध्य हो जाता है। यही सौन्दर्यात्मक तत्त्व कला को 'सत्य' ब्रह्म या मोक्ष प्राप्ति की ओर ले जाते हैं। श्रोताओं की तन्मयता ही इस बात की द्योतक होती है कि उस समय श्रोता अचेतन होते भी चेतन तथा निष्क्रिय होते भी सक्रिय रहता है। श्रोताओं को आनन्द के चरमोत्कर्ष तक ले जाने वाला यही भाव सौन्दर्य के शास्त्रीय

लक्षणों से युक्त माना जा सकता है। इन लक्षणों के अन्तर्गत, सम्मित्रता (Symmetry), संगति (Harmony), संतुलन (Balance), सुव्यवस्था (Order), विविधता (Variety), औचित्य (Propriety), स्पष्टता (Clarity) सौम्यता (Simplicity) आदि अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। संगीत कला में सौन्दर्य के शास्त्रीय नियमों एवं लक्षणों के पालन से, सौन्दर्य उपादानों के समुचित प्रयोग से, कलाकार की सुन्दर एवं सफल अभिव्यक्ति से अनुकूल वातावरण में, श्रोता के सहृदय एवं ग्रहणशील होने पर संगीत कलाकृति से जो विलक्षण आनंद की अनुभूति होती है वही सौन्दर्यानुभूति है। संगीत कला से प्राप्त आनंद मूलतः विशुद्ध ही होता है।

13.4 सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में काव्यकला

भारतीय काव्य परम्परा में ऋग्वेद में सौन्दर्य को 'श्री' नाम से सम्बोधित किया गया है, इसके अतिरिक्त 'श्रिय' श्रेष्ठ आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। अमरकोष में सुन्दर शब्द तथा उसके अनेक पर्याय शब्द मिलते हैं।

यथा—

‘सुन्दर रुचिरं चारु, सुषमं, साधु, शोभनम्।
कान्त, मनोरम्, रुच्यं मनोज्ञं, मजुं, मंजुलम्,
अभीष्टेभीप्तिं, हृदयं, दयितं, वल्लभं, प्रियम्।’

इसके अतिरिक्त ललित, सुष्ठु काम्य, कमनीय, दिव्य आदि शब्दों का भी प्रयोग 'सौन्दर्य' शब्द के पर्याय के रूप में किया गया है। अंग्रेजी में सौन्दर्य का वाचक शब्द—Beauty है। Beauty का अर्थ है “Any of those attributes of form, sound, colour, execution, character, behaviour etc. which give pleasure and gratification to the senses or to the mind, a person or thing possessing this” (आकृति, रूप, ध्वनि, रंग, प्रस्तुतिकरण, चरित्र, व्यवहार आदि जो इन्द्रियों अथवा मन को आनंद तथा संतोष प्रदान करें अथवा ऐसे गुण से सम्पन्न कोई व्यक्ति अथवा वस्तु)।

ललित कलाओं में निहित सौन्दर्य का तात्त्विक विवेचन करने तथा उसके आधार पर सिद्धांतों का निरूपण करने हेतु ही 'सौन्दर्यशास्त्र' (Aesthetics) की व्युत्पत्ति हुई तथा इसे एक शास्त्र के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। Aesthetics का शाब्दिक अर्थ है “The Science of the Beauty in art and nature” अर्थात् कला व प्रकृति के सौंदर्य का विज्ञान या शास्त्र है। इससे पहले पाश्चात्य परम्परा में सौन्दर्य का विवेचन दर्शन की एक शाखा के रूप में होता था। भारतीय सौंदर्य दर्शन मूलतः अध्यात्मिक है। सौन्दर्य शब्द की चर्चा करते हुए सत्यं, शिवं, सुंदरम् व सच्चिदानंद शब्द सहज ही सामने आते हैं। सत्यं, शिवं, सुंदरम् व सच्चिदानन्द के गुण हैं इसमें सुंदरम् का स्थान सबसे आगे हैं। सुन्दरम् के अन्तर्गत ही सत्य एवं शिव का समागम है। जो सुन्दर है उसका अस्तित्व है, वहीं 'सत्य' है, सुन्दरम् में आनंद प्रदायनी क्षमता है, जो आनंददायी है वो स्वतः ही कल्याणकारी हैं। यही 'शिव' है। सुन्दरम् की अनुभूति ही आनंद की अनुभूति है संगीत कला जब अपने सूक्ष्म सौंदर्य से श्रोताओं को अवधानमग्न और तन्मय कर देती है तभी परम् सुन्दरम् की स्थिति आती है और परमानंद की अनुभूति होती है। प्राचीन आचार्यों के बीच भरत के नाट्यशास्त्र, राजशेखर की काव्य मीमांसा

और अभिनवगुप्त की कृतियों में प्रसंगवश ललितकलाओं के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध का निर्देश मिलता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में ललितकलाओं के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध पर कम विचार किये जाने का प्रधान कारण यह है कि यहाँ काव्य की गणना विद्या में और कलाओं की गणना उपविद्या में की जाती थी। इस वर्ग भेद के कारण यहाँ काव्यशास्त्रीय विचारणा में कलाओं के विवेचन को उचित स्थान नहीं मिल सका। तथापि शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों धरातलों पर संस्कृत साहित्य में भी अन्य कलाओं के साथ काव्य के अन्तःसम्बन्ध का संकेत मिलता है। शास्त्रीय धरातल पर राजशेखर के विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं। राजशेखर का मन्तव्य है कि यद्यपि काव्य या साहित्य विद्या है और कलाएँ उपविद्या हैं, तथापि काव्य और कलाओं के बीच एक अन्तः सम्बन्ध है, क्योंकि कलाओं के सन्निवेश से काव्य को जीवन मिलता है—“शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टि। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य।” (काव्यमीमांसा) अतः राजशेखर ने कवि चर्चा का विवेचन करते समय कवियों को कलाओं के अनिवार्य अध्ययन का निर्देश दिया है—“गृहीत विद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः, अलंकार तन्त्रं च काव्यविद्याः। कलास्तु चतुःषष्टिरुपविद्याः।” (काव्यमीमांसा दशम अध्याय) इसी तरह आचार्य वामन ने भी ‘काव्यालंकारसूत्रवृत्ति’ में काव्य के उत्कर्ष के लिए अन्य कलाओं के साहाय्य का निर्देश किया है—‘कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित्। कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि। तेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् संवेदनम्। न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यक् निबद्धं शक्यमिति। (काव्यमीमांसा) तदनन्तर व्यावहारिक या लोकप्रचलित धरातल पर संस्कृत साहित्य में अनेक ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं, जिनसे काव्येतर कलाओं के साथ काव्य का अन्तः सम्बन्ध समर्थित होता है। भर्तृहरि की इस पंक्ति ‘साहित्य संगीत कलाविहीन’ से लेकर दण्डी के ‘दशकुमारचरित’ के अष्टम उच्छ्वास की इस पंक्ति ‘बुद्धिश्च निसर्गपट्वी कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु काव्यविस्तरेषु प्राप्त विस्तारा’ तक काव्य और कलाओं का यही अन्तः सम्बन्ध ध्वनित हुआ है। इसी लिए भरत ने काव्य को सभी शिल्पों और कलाओं का समवाय सिद्ध करते हुए यह घोषणा की है—‘न तज्ज्ञानं न सा विद्या न तच्छिल्पं न सा कला। जायते यन्न काव्यांगम्। इस प्रकार विविध भावों से परे इसी सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्यानुभूति की परमानन्द अवस्था को ही, आचार्य अभिनवगुप्त ने रसानुभूति का ‘चरम तल’ तथा आचार्य विश्वनाथ ने ‘ब्रह्मानन्द सहोदर’ कहा है। भारतीय परम्परा में ‘रस’ को सौन्दर्य का पर्याय माना गया है। रस का सम्बन्ध आनन्द से है, ललित कलाओं की विशेषता है आनन्द प्रदान करना। कला द्वारा निर्मित रस प्रकृति द्वारा उत्पन्न पदार्थों के रस से भिन्न है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धांत को विशेष महत्वपूर्ण मान सकते हैं, क्योंकि यह औचित्य ही सिद्धांत काव्य की तरह अन्य ललित कलाओं पर भी सामान्य रूप से लागू होता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र की ‘औचित्यविचारचर्चा’ विचारणीय है। क्षेमेन्द्र के अलावा अन्य विचारकों ने भी औचित्य के रूप और प्रकार का विश्लेषण है—विषयौचित्य, वाच्यौचित्य, देशौचित्य, समयौचित्य, वक्तृविषयौचित्य एवं अर्थौचित्य। आशय यह है कि रस सिद्धांत से भी बढ़कर औचित्य विचार ही भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का वह आधार रूप है, जो सभी ललितकलाओं पर समान रूप से लागू हो सकता है। सचमुच औचित्य की भावना रस, ध्वनि इत्यादि सभी काव्य तत्वों की मूल भावना है। क्षेमेन्द्र ने इस तत्व का ‘औचित्यविचारचर्चा’ में सूक्ष्म निरूपण किया है। उन्होंने बार—बार इसे कहना चाहा है कि औचित्य ही रस का प्राण है—

‘औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ।।’

सौन्दर्य की
अभिव्यक्ति के रूप
में ललितकला :
संगीतकला और
काव्यकला

अतः भारतीय आलोचनाशास्त्र के तीन प्रमुख सिद्धांतों रससिद्धांत ध्वनिसिद्धांत और औचित्य सिद्धांत में अन्तिम सिद्धांत ही वह व्यापकतम सिद्धांत है, जो सभी ललितकलाओं के लिए एक सर्वमान्य निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार भारतीय परम्परा में सौन्दर्यानुभूति ही रसानुभूति है। अभिव्यक्ति के स्तर पर सौन्दर्य तथा अनुभूति के स्तर पर आनंद है। रस, श्रृंगार, हास्य, करुण, शोक आदि ही नहीं बल्कि भयानक रौद्र, अद्भुत, वीभत्स आदि रसों से युक्त आदि मानसिक विचारों को भी ‘भय’ के घेरे से दूर रहकर उनका रसास्वादन सौंदर्यात्मक रूप में कराता है। जैसे संगीत कला में ‘करुण भाव’ के प्रस्तुतीकरण में कलाकार स्वयं पीड़ित नहीं हो उठता बल्कि विभिन्न अलंकार एवं संगीत के घटकों, काकु-प्रयोगों द्वारा आलाप आदि को इस प्रकार भावों से ओतप्रोत कर देता है कि सहृदय श्रोताओं को भी कलाकार की मानसिक स्थिति के साथ तादात्म्य होने के कारण उन्हें भी एक समान भावानुभूति होती है। तादात्म्य होने की यही अवस्था ‘रसानुभूति’ अथवा ‘सौन्दर्यानुभूति’ है। सभी प्रकार के विचारों और उनके लिए निमित्त रसों का आस्वादन कराने की क्षमता एक कुशल कलाकार में होती है। उसका कारण यह है कि कलाकार सहनशील व सहृदय होने के कारण प्रत्येक वस्तु व्यक्ति या कथन की गहराई तक पहुँचने का प्रयास करता है। स्वार्थपरता से दूर रहकर आत्मा का ब्रह्मा की सिद्धि में एवं वास्तविकता में विश्वास रखते हुए, बहिरंग के साथ अंतरंग को भी जाँचता परखता है तथा बिना किसी की परवाह किए निसंकोच मुक्त रूप से भावाभिव्यक्ति करता है और इस प्रकार हर तरह से मानसिक विचारों भावों व रसों का अनुभव कलात्मक एवं सौन्दर्यात्मक रूप में स्वयं भी करता है व दूसरों को भी कराता है। सौन्दर्य की उपलब्धि अंतः और बाह्य दोनों ही कारणों से मानी जा सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई सुंदर वस्तु सभी को सुन्दर प्रतीत हो। सौन्दर्य अनुभवनिष्ठ भी हो सकता है। कमल अथवा गुलाब का फूल, नदी का कल-कल कर बहना, झरने का गिरना सभी को सुंदर लग सकता है किन्तु मानवीय भावनाओं के आधार पर देखा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति को अपना आराध्य देवी देवता, प्रत्येक माँ को अपना बालक एवं प्रियजन रूपवान अथवा कुरूप होने पर भी सुन्दर प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ प्रेम ही प्रधान भाव बनकर सौन्दर्य का अनुभव करा देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य केवल वस्तु का गुण नहीं है बल्कि मानसिक प्रतीति भी है। विद्वानों ने सौंदर्य का संबंध रस के साथ जोड़ते हुए उसे आनंद का मूलभूत तत्त्व बताया है। रस निष्पत्ति के लिए संवेगात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में काव्य की प्रमुख भूमिका रहती है। सौन्दर्यानुभूति के निर्माण में माधुर्य ओज एवं प्रसाद इन तीन गुणों का समावेश रहता है। माधुर्य-मिठास, कोमलता एवं प्रेम की भावना से हृदय को कोमल एवं द्रवित करने वाला है। ओज में वीरता व शूरता की भावना भरने वाला तथा प्रसाद-मोहक स्पष्ट, सरल व शांतचित्त की भावना को व्यक्त करने वाला है। इनके अन्तर्गत ही काव्य के माध्यम से सूक्ष्म या स्थूल रूप में अभिव्यक्ति की अनेक सुंदर धाराएँ प्रवाहित होती हैं। ललित कलाओं को सौन्दर्य का साक्षात् स्वरूप कहा गया है। ये आनन्दात्मक होने के कारण ऐन्द्रिय सुख के साथ मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक सुख भी प्रदान करती है। ललित कलाओं की अभिव्यक्ति से जो रस उत्पन्न होता है उसे कलात्मक अनुभूति कहा गया है। कलात्मक रचना द्वारा रस की प्राप्ति मानवीय सृष्टि एवं प्रयत्नों का फल है।

इस प्रकार भारतवर्ष में विचारकों का एक वर्ग सौन्दर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र या साहित्य विद्या का पर्याय मानता है। किन्तु काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन की सीमा केवल काव्य तक सीमित है जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओं का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ सभी काव्येतर कलाओं स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और संगीत तक फैली हुई है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नहीं बल्कि कलाशास्त्र है।

बोध प्रश्न-1

1. निम्नलिखित प्रश्नों के ठीक उत्तरों पर सही (✓) का चिन्ह लगाइयें।

- ऋग्वेद में सौन्दर्य को किस नाम से पुकारा गया है। (श्री/ईष्वा)
- 'ऐस्थेटिक' शब्द किस भाषा से लिया गया है। (यूनानी/रोमन)
- 'ऐस्थेटिक' शब्द किस शब्द से बना है। (Atoantikos/रोमन)

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

- 'ऐस्थेसिस' का..... अर्थ है। ('ऐन्द्रिय सुख की चेतना' / ईश्वरीय सुख की चेतना)
- सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य पर विचार किया जाता है। (तीन प्रकार के/चार प्रकार के)
- क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य ही प्राण है। (रस का/अलंकार का)

बोध प्रश्न-2

1. सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं का अन्तः संबंध पर विचार कीजिए।

.....

.....

2. सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में संगीत कला पर विचार कीजिए।

.....

.....

अभ्यास प्रश्न 1

सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं में काव्यकला पर विस्तृत विचार कीजिए।

13.5 सारांश

ललित कलाएँ सौन्दर्याभिव्यक्ति का वो माध्यम है जो अलौकिक आनंद प्रदान करती है। कला रूप की सर्जना करती है। अरूप को रूप देती है। अव्यक्त को व्यक्त करती है। जन-साधारण कला को मनोविनोद का साधन मानते हैं अर्थात् मन को आनंद देने वाला। यद्यपि मनोविनोद भी साधारण बात नहीं है, तथापि कला एवं मनोनिर्माण मन का निर्माण भी करता है। सृजन ही कला का सार है और सृजन ही सर्वस्व है। नूतन चेतना का आविर्भाव, नये आयाम और स्फूर्ति का उदय है। कला व्यापक है केवल चित्र

संगीत व मूर्ति कला ही कला नहीं है। स्वर-शब्द, रंग-रेखा, आकार-आयाम, सज्जा-अलंकार आदि सभी में अपनी समूची रूप-संपदा व रूप-विधान को लेकर कला प्रकट होती है। अंतर केवल माध्यम का है। इस इकाई में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ललितकलाओं जैसे स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य, संगीत के अन्तः सम्बन्ध का वर्णन किया गया।

13.6 शब्दावली

सौन्दर्य	— शोभा
अलंकार	— सौन्दर्य
ऐस्थेटिक्स	— सौन्दर्यशास्त्र
सर्जना	— निर्माण करना
अलौकिक	— ईश्वरीय

13.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अभिनवभारती के तीन अध्याय, अभिनवगुप्त, सम्पा. नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दि.वि. दिल्ली प्र.स. 1960
- औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र व्याख्या. ब्रजमोहन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982
- काव्यप्रकाश मम्मट, सम्पा. एवं व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
- काव्यादर्श, दण्डी, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. क्षेमेन्द्रकुमार गुप्त, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1973
- काव्यालंकार भामह, सम्पा. एवं व्याख्या देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा-परिषद् पटना, 1985
- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. वेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,
- काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, सम्पा. एवं व्याख्या डा. रामानन्द शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2000
- ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, विश्वेश्वरकविचन्द्र सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी, 1998
- नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय, चौ.सं.संस्थान, वाराणसी, 1980
- अभिज्ञानशाकुन्तलम् एक अध्ययन , काशीनाथ द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- रसगंगाधर, पण्डितराज जगन्नाथ, सम्पा. एवं व्याख्या पं. बद्रीनाथ झा और पं. मदन मोहन झा चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2001
- ध्वन्यालोक लोचन अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक की टीका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1911

- वक्रोक्तिजीवितम्, कुन्तक, राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 2007
- व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 1987
- सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी 1979
- साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, व्याख्याकार डा. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1976
- भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 1, 2 बलदेव उपाध्याय, भा. व. उ. प्रसाद परिषद् काशी वि. सं. 2007
- भारतीय सौन्दर्यदर्शन, ब्रजमोहन चतुर्वेदी, मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, मध्यप्रदेश, 1998
- संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, अष्टम खण्ड काव्यशास्त्र, उ.प्र.सं.सं.लखनऊ,
- कालिदास ग्रन्थावली, सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1960
- अभिज्ञान शाकुन्तलम्, कपिलदेव द्विवेदी, साहित्य संस्थान इलाहाबाद

ENGLISH REFERENCE

- 1) B.M.Chatturvedi, **Some unexplored Aspects of the Rasa Theory**, vidyanidhi Prakashan, ed.1906
- 2) S.K De, **History of Sanskrit Poetics**, Firma KLM PVT Ltd. Calcutta, 1976.
- 3) Raniero Gnoli, **The Aesthetic experience according to Abhinavagupta**; chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1968
- 4) P.V Kane, **History of Sanskrit Poetics**, MLBD, Delhi, f.ed. 1961
- 5) A.B Keith, **History of Sanskrit literature**, oxford, 1928
- 6) V.Raghvan, **The Number of Rasas**, University of Madras, 1949, Adyar Library Adyar, 1940
- 7) V.Raghvan, **Some Concepts of Alankar Shastras**, Adyar Library, Adyar, 1942

13.8 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- क. (i) श्री (ii) यूनानी (iii) Atoantikos
- ख. (i) 'ऐन्द्रिय सुख की चेतना' (ii) तीन प्रकार के (iii) रस का

1. सभी कलाओं में कलाकार के हृदय में अपनी कला के प्रति एक पवित्र भावना होती है जो आध्यात्मिकता से परिपूर्ण होती है। प्रत्येक कला का उद्देश्य आत्मोन्नति, मोक्ष प्राप्ति, सामाजिक उत्कर्ष तथा लोकरंजन से जुड़ा होता है। आत्मोन्नति एवं मोक्ष प्राप्ति को कला का लक्ष्य मानने से उसका संबंध स्वतः ही मानव के उस आत्मिक एवं मानसिक बल से जुड़ जाता है यही कारण है कि कला को विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम कहा गया है।

सौन्दर्य सभी ललित कलाओं का नैसर्गिक गुण है। प्राचीन काल से ही मनुष्य ललित कलाओं के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति करता रहा है। सौन्दर्य एक ईश्वरीय गुण है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है “विश्व के समस्त सौन्दर्य में मेरा ही तेज विद्यमान है।” ललित कलाएँ मनुष्य की नैसर्गिक सौन्दर्याभिव्यक्ति का आधार हैं। समस्त कलाओं की अभिव्यक्ति का प्रेरणा स्रोत मनुष्य की सौन्दर्य प्रियता ही है। ललितकलाएँ मनुष्य की सौन्दर्य चेतना की प्रतीक हैं।

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने कला को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है। ‘प्लेटो के अनुसार, कला सत्य की अनुकृति है। कला में हम ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि को ही सत्यापित करते हैं। अरस्तू ने कहा है कि “कला अनुकरणीय है।” कला में सामान्य प्रत्यय को रूपायित किया जाता है क्योंकि विशिष्ट की अनुकृति उचित तथा संभव नहीं है। प्लाटिनस ने कला को ‘ऐन्द्रिय कल्पना न मानकर बौद्धिक कल्पना’ कहा। बाउमगार्टेन ने कहा कि ‘कला प्रकृति की अनुकृति’ है। हीगेल के अनुसार, कला भौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है। क्रॉचे ने ‘कला को बाह्य प्रभाव की अभिव्यक्ति’ माना। फ्रेडरिख नीत्शे ने कला को ‘आत्माभिव्यक्ति’ कहकर परिभाषित किया। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक स्तर पर कला की कल्पना का संपूर्ण क्षेत्र ‘अर्धचेतन मस्तिष्क’ की क्रिया माना। कलिंगवुड के अनुसार, ‘कला जीवन की आधारशिला हैं, संपूर्ण जीवन के अनुभवों की समग्र अभिव्यक्ति है, व्यक्ति और समाज की चेतना की एक महत्वपूर्ण क्रिया है। रस्किन ने ‘कला को ईश्वरीय कृति के प्रति मान आह्लाद की अभिव्यक्ति माना। टाल्सटॉय के अनुसार, ‘अपने भावों को इस प्रकार अभिव्यक्ति करना कि प्रेक्षक में भी वही भाव उत्पन्न हो कला है।’ हर्बर्ट रीड ने कला को क्रीड़ा माना। लेंगर ने कलादर्शन की दृष्टि से भावन अर्थात् प्रभाव-पक्ष को महत्व दिया है तथा प्रभाव-पक्ष के विवेचन विश्लेषण को ही सौन्दर्यशास्त्र का प्रधान विवेच्य विषय माना।

2. सभी ललित कलाओं में अभिव्यक्ति के माध्यम की सूक्ष्मता के आधार पर संगीत को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। संगीत कला का सौंदर्य दिव्य है जहाँ संगीत है, वहाँ ईश्वर का वास है। भारतीय संगीत का आधार नाद है, जिसे नाद ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। यही आदिनाद ‘ऊँ’ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय परम्परा में संगीत को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना जाता था। संगीत शास्त्रों में ब्रह्मा की प्राप्ति के लिये नादोपासना का मार्ग बताया गया है तथा इस सम्पूर्ण सृष्टि को ही ‘नादात्मक’ कहा गया है—

“न नोदन बिना गीतं न नादेन बिना स्वराः।

न नादेन बिना नृतं तस्मान्नादात्मकं जगत्॥

अर्थात् नाद से ही श्रुति तथा श्रुति से स्वर की उत्पत्ति हुई है। स्वरों के विशिष्ट-संयोजन से राग का सृजन होता है। संगीत ग्रंथों में स्वर के लिए कहा है कि-‘श्रुत्यंतर भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः, स्वरो रंजयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्चयते’ तथा राग के लिये ‘योऽश्व्यध्वनिविशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः, रंजकं जन चित्तानां सः रागः कथितौ बुधैः’ आदि परिभाषाएँ दी गयी हैं। इनसे यह विदित होता है कि स्वर में स्निग्धता, अनुरणन, प्रकाशमान, स्पष्ट व रंजकता निहित है और इन्हीं विशेषताओं युक्त स्वरों से राग की रचना होती है। स्वर रंजक होने के कारण स्वतः ही आनंददायी होते हैं। ये स्वर ही राग संगीत का स्रोत हैं अतः हम कह सकते हैं कि संगीत कला की नींव है सौन्दर्यतत्त्व पर आधारित है। संगीत में निहित रंजक तत्त्व ही सौन्दर्य का प्रतीक है। राग रचना में आरोह-अवरोह के रूप में ली गयी अनेक स्वर संगतियों में ‘काकु’ प्रयोग के साथ मधुर ध्वनि प्रवाह, स्वरात्मक लय तथा लयात्मक स्वर आदि ही मिलकर संगीत का निर्माण करते हुए उसमें निहित सौन्दर्य तत्त्व का श्रुत्य रूप में अनुभव कराते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि स्वर व लय की विशिष्ट संयोजना द्वारा ही संगीत में सौन्दर्य का जन्म होता है क्योंकि भावों की अभिव्यक्ति में अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत कला का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। संगीत मात्र ध्वनि के सुन्दर संयोजन द्वारा ही सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति में सक्षम है। ध्वनि जब स्थिर नियमित स्पष्ट, मधुर एवं संगीतोपयोगी हो जाती है तब वह स्वर में परिणित हो जाती है। स्वर के शुद्ध तथा विकृत दोनों ही रूप संगीत में सौन्दर्याभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। राग भारतीय संगीत की अनुपम निधि है। राग स्वर वर्ण से अलंकृत विशिष्ट स्वरावली है जो रंजक तथा आनंदप्रद है। राग में सौन्दर्य के अनंत रहस्य निहित हैं। एक राग अनेक बार सुनने पर भी सुन्दर एवं मनोहारी प्रतीत होता है। राग भारतीय संगीतज्ञों की सुविकसित, परिष्कृत, सूक्ष्म सौन्दर्यभावना का प्रतीक है। राग का स्वर वर्ण से विभूषित ‘ध्वनिविशेषस्तु’ अंग उसके रूप सौंदर्य से संबंधित है तो उसका ‘रंजकत्व’ तत्त्व अंतःसौन्दर्य से संबंधित है। राग के विस्तार में स्वरों के विविध लगाव, आलाप तान, वादी, संवादी, विवादी स्वरों का उचित संयोजन, कण, मुर्की, मीड, खटका, गमक आदि अलंकरणों का प्रयोग, राग भाव के अनुसार ताल का सही निर्धारण तथा उचित लयों का प्रयोग उसके सौन्दर्य वृद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार संगीत कला एवं सौन्दर्यानुभूति में डॉ. किरन शर्मा ने कहा है कि लहरियों की अविरलता तथा स्वर, ताल, लय का अपूर्व संयोजन ही संगीत का सौन्दर्य आदर्श है जो सुनने वाले को विशिष्ट आनंदानुभूति कराता है, यही सौन्दर्यानुभूति है। कलाकार द्वारा जब किसी राग की अवतारणा की जाती है तो कलाकार, कलाकृति एवं श्रोता इन तीनों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। गायक अथवा वादक अपनी कल्पना के सहारे रचना को सुन्दर स्वर लहरियों से सवारता है तथा विस्तारित करता जाता है तथा श्रोता अपनी मनः स्थिति के अनुसार उसका रसास्वादन करता जाता है। कलाकार की भावाभिव्यक्ति तथा श्रोता की भावानुभूति की इस प्रक्रिया के बीच में ‘सौन्दर्य’ अपना स्थान बना लेता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कलाकार के अन्तर्मन में स्थित सौन्दर्य की कल्पना का बाह्य सौन्दर्य के साथ सामंजस्य, निर्मित कलाकृति में उस सौन्दर्य का आविर्भाव तथा श्रोता के मन में सौन्दर्य का अनुभव इन तीनों (कलाकार, कलाकृति तथा सहृदय) के समन्वित रूप में ही सौंदर्य निहित है। कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा आनंद एवं वेदना दोनों प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। कोई श्रृंगारिक अथवा

शांत रस से परिपूर्ण रचना यदि श्रोता के मन को आनंदित करती है उतना ही आनंद कोई विरह गीत या करुण रस से परिपूर्ण रचना भी प्रदान कर सकती है। उचित स्वर सन्निवेश भावों के अनुसार काकु प्रयोग श्रोता के चित्त को आह्लादित करने की क्षमता तथा कल्पना का प्रयोग किसी भी रचना को हृदयग्राही बना सकता है। संगीत रचना के बाह्य तथा आंतरिक दोनों स्वरूपों को उभारना व श्रोताओं को स्वर लहरियों के सागर में विहार कराना ही यदि कलाकार का लक्ष्य हो, और वह इसमें सफल हो तभी सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से वह उत्कृष्ट कला कही जा सकती है। वाद्य संगीत पदविहीन होने के उपरान्त भी स्वरों के सुनियोजित एवं सुन्दर संयोजन के कारण आनंदानुभूति के एक विशिष्ट वातावरण का निर्माण कर देता है। श्रोतागण तन्मय होकर उस वातावरण में विशेष सौन्दर्यात्मक तत्त्वों के निहित होने के कारण उसका रसास्वादन करने को बाध्य हो जाता है। यही सौन्दर्यात्मक तत्त्व कला को 'सत्य' ब्रह्म या मोक्ष प्राप्ति की ओर ले जाते हैं। श्रोताओं की तन्मयता ही इस बात की द्योतक होती है कि उस समय श्रोता अचेतन होते भी चेतन तथा निष्क्रिय होते भी सक्रिय रहता है। श्रोताओं को आनन्द के चरमोत्कर्ष तक ले जाने वाला यही भाव सौन्दर्य के शास्त्रीय लक्षणों से युक्त माना जा सकता है। इन लक्षणों के अन्तर्गत, सम्मित्रता (Symmetry), संगति (Harmony), संतुलन (Balance), सुव्यवस्था (Order), विविधता (Variety), औचित्य (Propriety), स्पष्टता (Clarity) सौम्यता (Simplicity) आदि अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। संगीत कला में सौन्दर्य के शास्त्रीय नियमों एवं लक्षणों के पालन से, सौन्दर्य उपादानों के समुचित प्रयोग से, कलाकार की सुन्दर एवं सफल अभिव्यक्ति से अनुकूल वातावरण में, श्रोता के सहृदय एवं ग्रहणशील होने पर संगीत कलाकृति से जो विलक्षण आनंद की अनुभूति होती है वही सौन्दर्यानुभूति है। संगीत कला से प्राप्त आनंद मूलतः विशुद्ध ही होता है।

अभ्यास प्रश्न— इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी स्वयं दे।

THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 14 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व—अलंकार, रीति और ध्वनि

इकाई की रूपरेखा

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक 'अलंकार' तत्त्व
- 14.3 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक 'रीति' तत्त्व
- 14.4 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक 'ध्वनि' तत्त्व
- 14.5 सारांश
- 14.6 शब्दावली
- 14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 14.8 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक अलंकार तत्त्व को जान सकेंगे ।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक रीति तत्त्व को जान सकेंगे ।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक ध्वनि तत्त्व को जान सकेंगे ।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व में प्रयुक्त तकनीकी शब्दावली से परिचित हो पायेंगे ।

14.1 प्रस्तावना

भारतीय आलोचकों की दृष्टि काव्य के बाह्य उपकरणों को हटाकर अन्तःस्थल तक पहुँची हुई थी। वे केवल बाह्य अलंकार को काव्य का भूषण मानने के लिए तब तक उद्यत नहीं होते थे जब तक उसमें 'सौन्दर्य' की सत्ता नहीं होती थी। यही सौन्दर्य भिन्न-भिन्न अभिधानों से प्रसिद्ध था। चमत्कार, विच्छिति, वैचित्र्य तथा वक्रता इसी सौन्दर्य तत्त्व की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र के अन्तरंग से अपरिचित विद्वान् यह दोषारोपण किया करते हैं कि यह केवल बहिरंग की समीक्षा को ही अपना सर्वस्व मानता है तथा अलंकार जैसे बाहरी अस्थायी शोभातत्त्व को ही काव्य का मुख्य आधायक मानता है परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न है, यह आरोप एकदम मिथ्या तथा निराधार है। यह शास्त्र काव्य की आत्मा के समीक्षण में ही अपनी चरितार्थता मानता है। फलतः यहाँ बहिरंग के साथ अन्तरंग की, शरीर के साथ आत्मा की, पूरी समीक्षा भारतीय आलोचनाशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है इसलिए प्रस्तुत इकाई में सौन्दर्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व अलंकार, रीति, ध्वनि के अन्तर्गत अलंकार तत्त्व, रीति तत्त्व तथा ध्वनि तत्त्व का विवेचन किया जायेगा।

14.2 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक अलंकार तत्त्व

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्यों की ऐसी परम्परा विद्यमान है, जो अलंकारों को काव्य-सौन्दर्य का मूल हेतु स्वीकार करते हुए उसे ही काव्य सर्वस्व उद्घोषित करती है। अलंकार सम्प्रदाय का स्थान रस सम्प्रदाय के बाद आता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई आलंकारिकों का उल्लेख किया है—‘आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमकं यमः, चित्रं चित्रङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, औपम्यौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुत्थः, उभयालंकारिकं कुबेरः।’ (काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय शास्त्र संग्रह का प्रथम परिच्छेद) किन्तु इनमें से किसी की भी कृति उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ही हैं जिनकी कृति उपलब्ध है। अतः भामह को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। भामह ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना है। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य में प्रधान है—‘तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।’ (अलंकार सर्वस्व पृष्ठ 307) रुय्यक का ‘अलंकारसर्वस्व’ अलंकारशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें 65 अर्थालंकारों और तीन शब्दालंकारों का वर्णन है।

‘अलम्’ पूर्वक ‘कृ’ धातु के योग से ‘करण’ या ‘भाव’ अर्थ में ‘घञ्’ प्रत्यय करने पर अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इनमें ‘अलम्’ एक अव्यय शब्द है, जिसका अर्थ योग्य या पर्याप्त है। इस प्रकार अलंकार शब्द से तात्पर्य ऐसे तत्त्व से था, जो पर्याप्त अथवा योग्य बना दे। प्रकारान्तर से ‘अलङ्करोति इति अलंकार’ तथा अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कार’ अतः अलंकार ऐसा तत्त्व है, जो चमत्कार अथवा सौन्दर्य को परिपूर्णता तक पहुँचाते है।

आचार्य भामह ने काव्य में अलंकारों को अंगी रूप में स्वीकार करके रस आदि को उसके अंग रूप में प्रतिपादित किया। भामह के शब्दों में—‘न कान्तमपि निर्भूषं विभातिवनितामुखम्’ अर्थात् जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुये भी भूषण के बिना शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार सुन्दर सरस काव्य की शोभा भी अलंकारों से होती है। अतः भामह ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट किया तथा उसको काव्य का प्राणतत्त्व माना। उन्होंने कहा है कि शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। (काव्यालंकार 1.30)

वाचां वकार्थं शब्दोक्तिरलंकारायकल्पतेः॥ (काव्यालंकार 5.60)

उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाय कि हे रावण! तुम सीता को लौटा दो अन्यथा राम तुम्हारा वध कर देंगे तो यह वाक्य काव्य नहीं कहलायेगा। यदि इसे इस प्रकार कहा जाय—

न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।

समये तिष्ठ लंकेश मा बालिपथमन्वगाः॥

अर्थात् हे रावण! जिस मार्ग से बाली मर कर गया है वह मार्ग संकुचित नहीं है इसलिए समय रहते सम्मल जा। बाली के मार्ग का अनुसरण न कर।” इस कथन में एक चमत्कार आ गया है। अतः यह उत्तम काव्य कहलाता है। इस प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए कहा कि वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार सत्ता कदापि सम्भव नहीं—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना ।। (काव्यालंकार 2.85)

किन्तु वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति भिन्न है—

निमित्ततो वचोयत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारनयाविना ।। (काव्यालंकार 2/85)

आचार्य दण्डी ने काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्वों को अलंकार कहा है—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते । (काव्यादर्श 21)

ये तत्त्व अनेकविध हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। काव्यगत शोभा के सम्पादक होने से उन्होंने रस आदि का ग्रहण रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत किया, जो की तीन प्रकार हैं—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम् ।

ऊर्जस्विरुदाहंकार युक्तोत्कर्ष न तत्रयम् ।। काव्यादर्श 2.275

सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग आदि को भी शोभाकर होने के कारण उन्होंने अलंकार माना—

यच्चसन्ध्यंग—प्रत्यङ्ग लक्षणाद्यगमान्तरे ।

व्यावर्णितमिदं चेष्टामलंकारतयैव नः ।। (काव्यादर्श 2/260)

इस प्रकार दण्डी कहते हैं कि अर्थ से युक्त पदावली यद्यपि काव्य का शरीर है, आत्मा नहीं किन्तु स्त्री का सौन्दर्य तो शरीर पर ही आधारित हैं इसलिये शरीर को अलंकृत रखना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे कुष्ठ का एक भी दाग पूरे शरीर को अस्पृश्य बना देता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का एक भी दोष उपेक्षा करने योग्य नहीं है अलंकार भी तो काव्य का शरीर ही हैं—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन ।।

स्याद् वपुः सुन्दरमपि चित्रेणैकेन दुर्भगम् ।

तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः ।। (काव्यादर्श)

अग्निपुराणकार ने भी अलंकार के लक्षण के सम्बन्ध में दण्डी का अनुसरण किया—‘काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते’ तथा अलंकार रहित कविता को विधवा के समान माना है—अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती । (अग्निपुराण 343. 12)

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्य वामन, जो रीति को काव्यात्मा रूप में स्वीकार करते हैं, अलंकार को सौन्दर्य रूप में प्रतिपादित करते हैं—काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलङ्कारः । (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.1.2) अर्थात् उनका कथन है कि काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व यदि गुण है, तो उस शोभा को अतिशयित करने वाले अलंकार है—

काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मागुणाः। (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.1)

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.2)

साहित्य में प्रमुख
सौन्दर्यात्मक
तत्त्व—अलंकार, रीति
और ध्वनि

उद्भट ने भी काव्य में अलंकारों की प्रधानता का प्रतिपादन किया था। उन्होंने रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों में रस आदि को समाविष्ट कर दिया। उन्होंने आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ का उपकारक माना—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

वच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।।

(उद्भट—काव्यालंकारसारसंग्रह, 4.6)

आचार्य रुद्रट ने अलंकारों को प्रधानता देते हुए अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' रखा तथा रस आदि का अलंकारों में ही अन्तर्भाव कर लिया—'काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्तिः' (काव्यालंकार 1.2)

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक तथा प्रवर्तकाचार्य कुन्तक ने काव्य परिभाषा देते हुए अलंकार सहित उक्ति को ही काव्य माना। उन्होंने कहा है कि 'जो कथन अलंकृत होता है, उसमें ही काव्यत्व है—

'अलंकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।

तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता।।' (कुन्तक वक्रोक्तिजीवितम् 1.6)

अलंकार प्रस्थान के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकारों की प्रधानता का खंडन सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने किया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस को अंगी तथा अलंकार को अङ्ग रूप में उद्धृत करना चाहिये। काव्य—शरीर रूप शब्द और अर्थ की शोभा में वृद्धि करने वाले इन अलंकारों का प्रयोग रसों के उपकारक रूप में ही किया जाना चाहिये। जिस प्रकार कामिनी के शरीर को कुण्डलादि आभूषण विभूषित करते हैं, उसी प्रकार काव्यगत—अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं—

'तमर्थवलम्बन्ते ये अङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।

अंगाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्यः कटकादिवत्।।' (आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक 2.17)

(आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक 2.17)

आचार्य मम्मट भी अलंकारों को विशेष महत्त्व प्रदान नहीं कहते। वे ठीक ही कहते हैं कि काव्य में अलंकार होने चाहिये किन्तु यदि 'अनलंकृति पुनः क्वापि' कहीं अलंकार न भी हो तो भी उसे अकाव्य नहीं कहा जा सकता है। जैसे—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।' (आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक 2.17)

वाल्मीकि प्रणीत इस आदि काव्य में कोई भी स्पष्ट अलंकार नहीं है फिर भी कोई भी विद्वान् इसे अकाव्य सिद्ध नहीं कर सकता।

आचार्य विश्वनाथ तो स्पष्ट रूप से अलंकारों की उपेक्षा करते हैं। उनके अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है। रस के बिना तो अलंकार भार के ही समान प्रतीत होंगे। उनके अनुसार—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिरस्यात्मा गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काण्त्वादिवत् रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः

कटककुण्डलादिवत् अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। रस भाव आदि आत्मा है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण मनुष्य के शौर्य आदि गुणों के सौन्दर्य नष्ट करते हैं। गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी और लाटी रीतियाँ अवयवों की रचना के समान है। अनुप्रासादि अलंकार कटक-कुण्डलादि के समान बाह्य शोभाधायक हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि अलंकार केवल काव्य में उत्कर्ष का आधान करते हैं स्वरूप का आधान नहीं करते। ऐसा अलंकार सम्प्रदाय के विरोधियों का अभिप्राय है।

समीक्षा—

जब सहृदय रसमर्मज्ञ विद्वज्जन आचार्य भामह की **‘न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्’** इस उक्ति पर विचार करते हैं तो सहसा इसकी निर्दुष्टता से सहमत नहीं हो पाते। तथ्य यह है कि वनिता का मुख यदि स्वाभाविक सुन्दर है तो आभूषणों के होने और न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। अव्याज मनोहर शरीर को अलंकारों की अपेक्षा नहीं होती। अलंकारों से सौन्दर्य में वृद्धि का सिद्धांत उनका हो सकता है जो सौन्दर्य को एकान्त वस्तुनिष्ठ मानते हैं। सौन्दर्य कभी एकान्तरूप से वस्तुनिष्ठ नहीं होता। सौन्दर्य प्रायः आत्मनिष्ठ होता है। स्वभाव से सुन्दर वनिता के मुख से अलंकार ही अलंकृत होते हैं मुख नहीं। यह बात स्वयं सौन्दर्य के पारखी महाकवि कालिदास कह रहे हैं—**किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्** अर्थात् सुन्दर आकृति के लिये भला क्या वस्तु अलंकार नहीं हो जाती।

लोकोत्तर सुन्दरी शकुन्तला के शरीर पर तो वल्कल भी आभूषण बन गये थे। प्रायः देखा जाता है कि स्वभाव सुन्दर कामिनी के शरीर पर तो बलात् आरोपित किये गये आभूषण उसके रूप को विकृत ही करते हैं। क्योंकि कामिनी के आभूषणों से उसके कुल, जाति और वैभव के उत्कर्ष का तो ज्ञान हो सकता है किन्तु उसके सौन्दर्य में किञ्चिन्मात्र ही वृद्धि होती है सर्वात्मना नहीं। इसी प्रकार काव्य में निहित अलंकारों से कवि की कल्पना विद्वता बहुश्रुतता और रचना कौशल का तो पता चलता है, किन्तु काव्य का सौन्दर्य उसमें निहित अनुभूति की गहनता और रस की आस्वाद्यता में होता है केवल अलंकारों के होने से नहीं।

कहने का तात्पर्य है कि कमल यदि मनोहर है तो शैवाल से घिरा हो या काँटों से, इससे क्या होता है। छोटे शिशु की मुस्कान का सौन्दर्य अलंकारों से नहीं बढ़ता। सत्पुरुष के चरित्र का सौन्दर्य सुवर्ण और रत्नों से नहीं बढ़ता। चन्द्रमा की कला की आह्लादकता उसमें निहित कलंक से कम नहीं होती।

सौन्दर्य तो बस सौन्दर्य ही है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह अलंकारों के समान दृश्य नहीं होता। वह तो अनुभव करने योग्य होता है प्रतीयमान होता है। प्रतीयमान तो कुछ और ही है। उस और कुछ की व्याख्या शब्दों से नहीं हो सकती है। आनन्दवर्धन कहते हैं—

‘प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।’

(ध्वन्यालोक 1/4)

क्या कोई अंगना के लावण्य की व्याख्या शब्दों से कर सकता है? लावण्य रहता तो उसके अंगों में ही है किन्तु फिर भी वह अंगों का धर्म नहीं है। अलंकारों के बिना भी वह दूर से ही झलकता है क्योंकि वह प्रतीयमान है। सहृदयों को ही उसकी प्रतीति

होती है। काव्य का सौन्दर्य भी प्रतीयमान है। वह तो महाकवियों की वाणी में रहता है अवश्य किन्तु वह अन्य ही है। उसके आगे अलंकार तुच्छ हैं—

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः, तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।।

(अभिज्ञानषाकुन्तलम्)

इस काव्य में कवि की कल्पना का जो वैभव विद्यमान है और शकुन्तला की जो अप्रतिम कोमलता ध्वनित हो रही है क्या वह किसी अलंकार की अपेक्षा रखती है? इसलिये अलंकार को काव्य का प्राण कहना और अलंकारहीन को अकाव्य कहना उचित प्रतीत नहीं होता। अतः अलंकारों को शोभावर्धक मानना ही उचित है। काव्यजीवित कहना दुराग्रह ही कहा जायेगा।

इस प्रकार अलंकार को काव्यगत चारुत्व का हेतु अथवा शोभा के अर्थात् सौन्दर्य अतिशय का आधायक कहा गया है। वास्तव में उक्ति की विचित्रता ही अलंकार होती है जो कि कवि की प्रतिभा से उत्थित होती है। यह उक्ति जब काव्यगत चमत्कार उत्पन्न करती है तो वही अलंकार होता है।

14.3 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक रीति तत्त्व

रीति शब्द 'री' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ मार्ग, शैली, विधा है। प्रकारान्तर से इसे पन्थ, वीथी, प्रणाली एवं पद्धति भी कहा गया है। रीति की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य भोज ने कहा है कि वैदर्भी आदि मार्ग काव्य के मार्ग कहे गये हैं। रीति शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्गतौ' (चलना) गत्यर्थक 'रीङ्' धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है—'रीङ्गताविति धातौ सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते' (भोज सरस्वती कण्ठाभरण 3.51)

साहित्यिक क्षेत्र में रीति का आशय कवि अथवा लेखक की विशिष्ट लेखन शैली में होता है। 'रीति' को पारिभाषिक रूप देने का श्रेय आचार्य वामन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को नहीं दिया जा सकता। पदों की विशिष्ट संघटना ही रीति होती है। इस प्रकार वामन के शब्दों में रीति ही काव्य की आत्मा है—

रीतिरात्मा काव्यस्य। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.6)

विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.7)

विशेषो गुणात्मा। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.8)

यहाँ पर विशिष्ट से उनका तात्पर्य गुणयुक्तता से था, जो गुण शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म है—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।'।

(वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.1)

वामन कृत उक्त परिभाषा में दो महत्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगत होते हैं—प्रथम, विशिष्ट पद रचना ही रीति है तथा द्वितीय यह कि वह शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऐसी विशिष्ट पद रचना, जिसमें शब्द और अर्थगत चमत्कार सन्निवेश हो, 'रीति' कहलाती है। उनका रीति—विभाजन प्रादेशिक सीमाओं पर अवलम्बित न होकर गुणों पर आश्रित था। उन्होंने तीन रीतियों वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली का विवेचन किया।

गौड़ी रीति— गौड़ी रीति की परिभाषा देते हुए वामन कहते हैं—‘ओजः कान्तिमती गौड़ीया’ अर्थात् ओज और कान्ति गुणों से युक्त, समास युक्त पदावली गौड़ी रीति है। इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है। प्रायः वीर रस में इसका प्रयोग होता है।

समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्ति गुणान्विताम् ।

गौडीयमिति गायन्ति रीतिं रीति—विचक्षणाः ।।

(वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.12)

गौड़ी का उदाहरण इस प्रकार है—

दोर्दण्डांचित चन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यतः,

टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।

द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमित ब्रह्माण्डभाण्डोदर—

भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ।।

(महावीरचरितम् 1.54)

सीता स्वयंम्बर के समय शिवधनुष के टूटने के समय श्रीराम के बाहुबल को लक्ष्य करके लक्ष्मण की यह उक्ति है—हाथ में उठाये हुए शिव धनुष के टूटने से उत्पन्न तथा श्रीराम के बालचरित की प्रस्तावना का उद्घोष करने वाले टंकार की ध्वनि, अकस्मात् कम्पित पृथ्वी और आकाश के कपालों में सीमित ब्रह्माण्ड के अन्दर भ्रमणशील अतिशय भयंकर (ध्वनि) क्यों अभी भी शान्त नहीं हो रही है। उक्त पद में समासयुक्त तथा उत्कट पदों की बहुलता होने से गौड़ी रीति है।

वैदर्भी रीति— वैदर्भी रीति गौड़ी रीति के विपरीत समस्त गुणों से युक्त, दोषों से पूर्णतः मुक्त तथा वीणा के स्वरों के समान मधुर रीति वैदर्भी है—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।

विपंचीस्वरसोभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।

(वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.11)

विदर्भ देश में प्रचलित होने के कारण इस रीति को वैदर्भी कहा जाता है। प्राचीनकाल में जिसे विदर्भ कहा जाता था वह महाराष्ट्र और राजस्थान का कुछ अंश मिलाकर बनता था। आज इसे बरार कहा जाता है। वैदर्भी रीति के श्रेष्ठतम कवि कालिदास हैं। उनका एक उदाहरण देखिये—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्,

छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।

विस्रब्धं कुरुतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले,

विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद् धनुः ।।

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2.6)

शकुन्तला के लावण्य में आसक्त राजा दुष्यन्त शिकार खेलने से विरक्त होकर कह रहा है कि अब भैंसे तालाब के जल में सींगों से जल को ताडित करते हुए प्रवेश करें। छाया में समूह बनाकर मृगों का झुण्ड आराम से जुगाली करे। सुअरों का समुदाय निश्चिन्त होकर नागरमोथा की जड़ को उखाड़े और मेरा यह धनुष शिथिल प्रत्यंचा

वाला होकर विश्राम करे। यहाँ पर समस्त श्लोक में प्रसाद और माधुर्य गुण विद्यमान है। समास न होने से सुकुमारता सर्वत्र परिलक्षित हो रही है।

पांचाली रीति—माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त तथा अश्लिष्ट और शिथिल पद रचना पांचाली रीति है—‘माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली’ (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.13)

इसकी विशेषता बताते हुए कवि कहते हैं—

अश्लिष्टाश्लथभावां तां पूरणछाययाऽऽश्रिताम्।

मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदुः॥

(वामन, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.13)

अर्थात् क्लिष्ट तथा अधिक समासों से रहित, कान्ति से युक्त, मधुर तथा सुकुमार रीति को कविजन पांचाली रीति कहते हैं।

उदाहरण—

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पन्थाऽधुना दीयते,

रात्रवत्र विहारमण्डप तले पान्थः प्रसुप्तो युवा।

तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतम्,

येनाऽद्यापि करकदण्डपतनाशंकी जनस्तिष्ठति॥ (अमरुशतकम्)

किसी गाँव में भद्रवेदी पर रात में सोने के लिये आये पथिक से कोई ग्रामीण वृद्धा कहती है—हे पथिक! इस गाँव में पथिक को रात में विश्राम के लिये निवास स्थान अब नहीं दिया जाता। बात यह है कि बहुत पहले यहाँ एक पथिक आया था। उसे एक विहारमण्डप में सोने के लिये स्थान दे दिया गया, किन्तु रात में बादल गरजने पर वह राहगीर उठ बैठा और अपनी प्रियतमा का स्मरण करके वहीं मर गया। तबसे यहाँ के लोग किसी की मृत्यु के पाप के भय से ग्रस्त होकर रहते हैं। इसलिये वे किसी को रात में निवासस्थान नहीं देते हैं।

उपर्युक्त श्लोक में मधुरता और सुकुमारता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है। कहीं भी समास युक्त पद नहीं है। केवल एक स्थान पर ‘करकदण्डपतनाशकी’ समस्त समास है। इस प्रकार की रीति पाञ्चाली रीति कहलाती है। उपर्युक्त तीनों रीतियों में आचार्य वामन प्रथम रीति वैदर्भी को अधिक महत्व प्रदान करते हैं क्योंकि उसमें अनेक गुण विद्यमान हैं। शेष दोनों में भी गुण है किन्तु अल्पमात्र में है इसलिये वे ग्राह्य नहीं हैं। यही बात आचार्य कह रहे हैं—

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् । 1.2.13

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । 1.2.15

वैदर्भी रीति पर आचार्य वामन की इतनी अधिक आस्था है कि वे गौड़ी और पाञ्चाली का पूर्वाभ्यास भी स्वीकार नहीं करते अर्थात् प्रश्न उठता है कि पहले गौड़ी और पाञ्चाली का अभ्यास किया जाये और जब अभ्यास दृढ़ हो जाये तो उसका उपयोग वैदर्भी के लिये किया जाये तो क्या हानि है? इसका उत्तर आचार्य वामन देते हैं कि रेशमी धागे के लिये सन के बान बुनने का अभ्यास नहीं किया जाता। इसलिये गौड़ी और पाञ्चाली का अभ्यास वैदर्भी के लिये उपयोगी नहीं अपितु हानिकारक है। सीधे

लाटी रीति—

यहाँ कुछ आचार्य लाटी को भी एक पृथक् रीति कहते हैं। लाट देश के निवासियों को प्रिय होने के कारण यह रीति लाटी कहलाती है। प्राचीन समय में गुजरात के एक विशेष भाग का नाम लाट था। आचार्य वामन ने लाटी की चर्चा नहीं की। किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने लाटी को भी एक स्वतन्त्र रीति स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वैदर्भी और पांचाली रीति के मध्य की रीति लाटी रीति है—**‘लाटी तु रीतिवैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता’ (साहित्यदर्पण 9.5)** यह मध्यम समास युक्त होती है तथा उग्र रसों के वर्णन में प्रायः इसका प्रयोग होता है।

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

अर्थात् जिसके पास प्रियतमा पत्नी नहीं होती, उसके लिये चन्द्रमा भी सूर्य होता है और जिसके पास पत्नी होती है उसके लिये सूर्य भी चन्द्रमा के समान प्रतीत होता है।

वामन के पश्चात् ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने रीति सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया किन्तु उन्होंने ‘रीति’ पद के स्थान ‘संघटना’ पद का प्रयोग किया। संघटना की परिभाषा देते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि यथोचित पद रचना ही संघटना अथवा रीति है। तत्प्रणीत यह रीति रसाश्रयी थी, जबकि वामन की रीति स्वयं में एक स्वतन्त्र अवधारणा है। उनके अनुसार संघटना तीन प्रकार की होती है—असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।

तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥

(आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक 3.61)

इसी सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने कहा है कि माधुर्य आदि गुणों के कारण संघटना उपस्थित रस के अभिव्यक्तिकरण में समर्थ होती है—

गुणानाश्रित्यतिष्ठनी माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।

रसान्तन्नि यमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥

(आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक 3.62)

आनन्दवर्धन कृत संघटना विवेचन का इस प्रकार है—

- संघटना का मूल—आधार समास है।
- यह संघटना गुणाश्रयी होती है।
- रसाभिव्यक्ति का माध्यम रीति ही है।

आनन्दवर्धन के पश्चात् राजशेखर ने रीति का सविस्तार विवेचन करते हुए कहा है—**वचनविन्यासक्रमो रीतिः। (राजशेखर काव्यमीमांसा पृ. 21)** अर्थात् वचनविन्यासक्रम ही रीति है। राजशेखर की यह रीति परिभाषा वामन की रीति परिभाषा

से मिलती—जुलती है, केवलमात्र शब्दावली का अन्तर है। जैसे राजशेखर द्वारा प्रयुक्त वचन का आशय वामन के शब्द अथवा पद विन्यास से है और विन्यास क्रम से तात्पर्य अर्थ रचना से है।

आचार्य विश्वनाथ ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है—पदों की संघटना को रीति कहते हैं। रीति शरीर रचना के समान होती है तथा रस भावादि रूप आत्मा का उत्कर्ष करती है—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्।।

(आचार्य विश्वनाथ—साहित्यदर्पण)

इस प्रकार आचार्य वामन ने गुणों को काव्यशोभा का उत्पादक और अलंकारों को केवल उस शोभा का अभिवर्धक माना है। इस प्रकार इन्होंने गुणों की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले 'रीतिसम्प्रदाय' की स्थापना की। उन्होंने शब्द के दस और अर्थ के दस गुण माने हैं। रीति में गुणों की स्थिति को इन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'समग्रगुणा वैदर्भी, ओजःकान्तिमती गौडीया, माधुर्यसौकुमार्योत्पन्ना पाञ्चाली।'

14.4 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक ध्वनि तत्त्व

कालक्रम से वक्रोक्ति सम्प्रदाय के बाद ध्वनि सम्प्रदाय का उदय हुआ। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय का उदय युगान्तरकारी है। इस ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय आनन्दवर्धन को ही दिया गया है तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य ध्वनि तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ थे। किन्तु आनन्दवर्धन ही ऐसे आद्याचार्य हैं, जिन्होंने ध्वनि को लक्ष्यकर नाट्य और काव्य को एकीकृत करने का अथक प्रयास किया है यही कारण है कि उन्हें साहित्य जगत में महती प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तत्त्वतः ध्वनि सिद्धान्त के सत्ता में आने से पूर्व अलंकार सिद्धान्त, रस सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त स्थायित्व प्राप्त कर चुके थे। किन्तु ध्वन्याचार्य ने इन सिद्धान्तों को अंगरूप में प्रतिपादित कर ध्वनि को काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित किया। वस्तुतः ध्वनि का मूल स्रोत वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त में सुरक्षित है तथा उसका स्फुटित रूप भारतीय दर्शनों में विवेचित व्यंजना व्यापार में द्रष्टव्य है। केवल मात्र शास्त्रीय ग्रंथों में ही नहीं अपितु रामायण, महाभारत एवं कालिदास की रचनाओं में ध्वनि दृष्टान्त प्रभुत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। महाभारत का प्रसिद्ध गृध्रगोमायु संवाद प्रबन्ध ध्वनि के दृष्टान्त रूप में विभिन्न काव्यांगों द्वारा उद्धृत किया गया है। ध्वनिकार का कथन है कि नाट्यशास्त्र में मुनि भरत ने रसादि योजना को लक्ष्य कर काव्य निबन्धन प्रस्तुत किया—एतच्च रसादितात्पर्येण काव्य निबन्धन भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव। (आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 3.37 की वृत्ति)

वास्तव में वह रस ध्वनि ही है जो काव्य रूप शरीर में आत्मरूप है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि रीतिवादी आचार्यों को भी इस ध्वनि रूप आत्मा का अंशतः आभास अवश्यमेव था किन्तु उन्होंने इसकी व्याख्या करने स्वयं को असमर्थ देखते हुए रीति सिद्धान्त को प्रवर्तित कर दिया—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।

अशक्नुवद्भिभव्यकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिता।।

ध्वनि के आधारभूत तत्त्व प्रतीयमान अर्थ से अलंकारवादी आचार्य परिचित थे। भामह आदि काव्यज्ञों ने अलंकारों को काव्यशोभाधायक तत्त्व मानते हुए पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अनेक अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया। यही कारण है कि उन्होंने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया। परन्तु इस कार्य में वे सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से भी पूर्व भी ध्वनि तत्त्व को वर्णित किया गया है। किन्तु ध्वनि सिद्धांत की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को नहीं दिया जा सकता है। उनके द्वारा स्थापित इस सिद्धांत को अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों द्वारा प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ।

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है—

- ध्वनति इति ध्वनिः।
- ध्वन्यते इति ध्वनिः।
- ध्वननं ध्वनिः।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ध्वनि कहलाते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है। तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंजना व्यापार ध्वनि है। ये चारों प्रकार की ध्वनियाँ क्योंकि काव्य में रहती हैं, अतः काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने इन पाँचों को ही ध्वनि कहा है—वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। (ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति) इन पाँचों ध्वनियों की व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार की है—

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यंजकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्रयते विभावानुभावसंबलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः न चासावभिधारूपः अपित्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। (ध्वन्यालोक 1.13 की वृत्ति की लोचन टीका) अर्थात् कहने का आशय यह है कि वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि हैं, क्योंकि दोनों का व्यंजकत्व ध्वनि व्यापार करना है। विभाव, अनुभाव आदि के संबलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि हैं, क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। शब्दन शब्द अर्थात् शब्द का व्यापार भी ध्वनि है, क्योंकि उसमें ध्वनि के पूर्वोक्त चारों प्रकार निहित रहते हैं। इस प्रकार शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और काव्य इन पाँचों को ध्वनि की संज्ञा दी गई है।

आचार्य विश्वेश्वर ने इन पाँचों में ध्वनित्व का प्रदर्शन इस प्रकार किया है—

- ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।
- ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित करे या कराये, वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।
- ध्वन्यते इति ध्वनिः अर्थात् जो ध्वनित किया जावे, वह व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है।

इसमें रस, अलंकार और व्यङ्ग्य ये तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ आ जाते हैं।

- ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः अर्थात् जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है, वह ध्वनि है। इससे शब्द—अर्थ के व्यापार शक्ति का बोध होता है।
- ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः अर्थात् जिसमें वस्तु, अलंकार, रस आदि ध्वनियाँ विद्यमान रहती हैं, वह काव्य ध्वनि है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार की है—

‘यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।’

(ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत 1.13)

अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ अपने अर्थ को गुणीभूत करके व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह ध्वनि काव्य है। सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय ही सबसे सशक्त और महत्वपूर्ण है। ध्वनिवादी आचार्य अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति आदि पूर्व वर्णित काव्य के तत्त्वों का सामञ्जस्य ध्वनि के साथ कर देते हैं। आनन्दवर्धन से पहले भी ध्वनिवाद की उद्भावना हो चुकी थी, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।

ध्वनिकार से पहले ध्वनि का विरोध भी होता रहा था। आनन्दवर्धन ने तीन ध्वनि—विरोधियों का उल्लेख किया है—

- अभाववादी, जो ध्वनि का अभाव मानते रहे हैं।
- भुक्तिवादी, जो ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करते रहे हैं।
- अनिर्वचनीयतावादी, जो ध्वनि का अनुभव करते हुए भी उसकी व्याख्या असम्भव मानते रहे हैं।

ध्वनि के विरोध में वैयाकरणी, वेदान्ती, मीमांसकों और नैयायिकों सभी ने आवाज उठाई किन्तु मम्मट ने इन सबका खण्डन कर ध्वनि की पुनः स्थापना की। अतः उन्हें ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन हैं तो अभिनव गुप्त पोषक हैं और आचार्य मम्मट प्राणाधान करने वाले हैं।

अनेक आचार्यों ने ‘व्यंजना’ का भी निषेध किया। भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व व्यापार द्वारा चारु अर्थ का भाव तथा रस का आस्वादन माना। धनञ्जय और धनिक ने व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ के अन्तर्गत माना है। वक्रोक्तिकार कुन्तक और व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि की स्थापना का प्रबल विरोध किया। कुन्तक ने ध्वनि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में और महिमभट्ट ने अनुमान में किया और व्यंग्यार्थ को अनुमेय बतलाया। आचार्य मम्मट ने समस्त विरोधों का खण्डन कर सुचारु रूप से व्यंजना की स्थापना की और व्यंजनावाद साहित्य में अमर हो गया।

ध्वनि को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि वाच्यार्थ की अपेक्षा जो अन्य अर्थ हृदयाह्लाद कारक हो वही ध्वनि है—‘इदमुत्तमतिशयिनि व्यंग्ये वाच्यात् ध्वनिर्बुधैर्कथितः।’ इस प्रकार अर्थ प्रधानतः दो प्रकार का होता है— 1. वाच्य 2. प्रतीयमान। अलंकार आदि का ग्रहण वाच्य अर्थ को विलक्षण मानते हैं जो रमणियों के

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत् तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।

(ध्वन्यालोक, 1/4)

ध्वनि सिद्धान्त रससिद्धान्त का पोषक है। ध्वनिकार ने 'काव्यास्यात्मा ध्वनिः' कहा है, किन्तु इसके माध्यम से रसरूप काव्यात्मा में ही उनका तात्पर्य है जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट कहा है—'तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।' ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन की अपनी उपलब्धि है, जिसे अभिनवगुप्त ने पुष्ट किया और मम्मट ने उसमें प्राणाधान कर उसकी सुदृढ़ पुनर्स्थापना की।

यद्यपि पारमार्थिक रूप से ध्वनि एक ही है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से आचार्यों ने ध्वनिकाव्य के अनेक भेद कर दिये हैं। ध्वनिकाव्य के प्रारम्भिक भेद दो हैं—अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला) और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला)। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्य अर्थ बाधित तो नहीं होता, परन्तु वह व्यंग्यपरक रहता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में वाच्य और व्यंग्य अर्थों के क्रम का बोध नहीं होता। यह रस, भाव आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती है। इसके अनन्त भेद हो सकते हैं, जिससे इसको एक ही मान लिया गया है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद कहे गये हैं—अलंकाररूप और वस्तुरूप। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के 12 भेद हैं। इसको पहले तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। इनमें से प्रत्येक के क्रमशः दो दो भेद—वस्तुरूप व्यंजक अर्थ और अलंकार रूप व्यंजक अर्थ होते हैं। इस प्रकार इसके छः भेद हो जाते हैं। अब इनमें से प्रत्येक भेद के पुनः दो दो भेद होते हैं—वस्तुरूपव्यंग्य अर्थ और अलंकाररूपव्यंग्य अर्थ। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि 12 प्रकार की हो जाती है। उभयशक्त्युद्भव ध्वनि एक ही प्रकार की होती है। मम्मट ने ध्वनि के 18 मुख्य भेद 'काव्यप्रकाश' में प्रदर्शित किये हैं, जो कि निम्न प्रकार से हैं—

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेद	—	2
असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद	—	1
शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	—	2
अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	—	12
उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	—	1

योग 18

को पल्लवित किया गया। उन्होंने सिद्ध किया कि रससिद्धि व्यंजना व्यापार द्वारा संभव है। ध्वनिकार ने ध्वनि के तीन रूपों वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि, रसध्वनि के प्रतिष्ठा की थी, किन्तु अभिनवगुप्त ने रसध्वनि को सर्वाधिक महत्ता प्रदान करते हुए कहा है कि रस का अभाव होने पर काव्य, काव्य अभिधा से अभिहित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार अभिनव गुप्त रसात्मक सौन्दर्य से समन्वित ध्वनि को ही काव्य कहने के पक्ष में है न कि केवल ध्वनि को। आचार्य मम्मट के अनन्तर पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि सिद्धांत के प्रति आस्था भाव रखते हुए उसका अन्धानुकरण नहीं किया। उनका काव्यगत श्रेणी विभाजन ध्वनि सिद्धांत पर ही आधारित है उन्होंने मम्मट प्रणीत त्रिविध काव्यभेदों के स्थान पर काव्य की चार श्रेणियाँ निर्धारित की—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि के दो प्रकार माने हैं—अभिधामूलक और लक्षणामूलक। प्रथम के तीन प्रकार हैं—रस, वस्तु एवं अलंकार ध्वनि तथा द्वितीय के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं अत्यंत तिरस्कृत वाच्य उनके शब्दों में रसादि ध्वनि असंलक्ष्य क्रम ध्वनि नहीं अपितु संलक्ष्यक्रम है फिर भी वे आनन्दवर्धन की मान्यताओं से वे प्रभावित अवश्यमेव है—**शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कम्प्यर्थमभिव्यङ्क्त तदाधमम्। (जगन्नाथ रसगंगाधर 1.2)**

बोध/अभ्यास प्रश्न

बोध प्रश्न-1

- क) निम्नलिखित प्रश्नों के ठीक उत्तरों पर सही (✓) का चिन्ह लगाइयें
- अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक कौन है? (भरत/भामह)
 - भामह की रचना क्या है? (काव्यालंकार/काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)
 - अलंकार सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य नहीं है? (भामह/मम्मट)
 - रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य है? (आचार्य वामन/आचार्य मम्मट)
- ख) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
- ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक है। (आनन्दवर्धन/भामह)
 - आनन्दवर्धन की रचना हैं। (ध्वन्यालोक/काव्यालंकार)
 - ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य..... हैं। (भरत/अभिनवगुप्त)
 - वामन के अनुसार रीतियाँ प्रकार की है। (3/4)

बोध प्रश्न-2

- क) रीति तत्व को स्पष्ट कीजिए।

.....
.....

- ख) अलंकार तत्व को स्पष्ट कीजिए।

.....
.....

अभ्यास प्रश्न

ध्वनि तत्व पर निबन्ध लिखिए।

14.5 सारांश

इस खण्ड-3 के इकाई 14 में ये साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व अलंकार तत्त्व का प्रथमतः विवेचन किया। अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं और चमत्कार का आधान करते हैं। इस सौन्दर्य या चमत्कार या चमत्कार के होने पर ही काव्य में काव्यत्व होता है। यदि काव्य में सौन्दर्य नहीं है, तो वह काव्य नहीं है। अलंकार का प्राण चमत्कार है, जो अलंकार जितना अधिक चमत्कार उत्पन्न कर सकता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। इसके पश्चात् साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व रीति का विवेचन किया गया है। काव्य के विशेष मार्ग या पद्धतियाँ ही रीति कहलाती हैं और विदर्भ आदि प्रदेश विशेष में प्रयुक्त होने के कारण उन्हीं प्रदेशों के नाम पर प्रसिद्ध हो गई। रीतिवाद में पद रचना को ही काव्य सर्वस्व माना गया है। काव्य का मूल गुण रमणीयता है। उसकी चरम सिद्धि है—सहृदय का मनः प्रसादन और परिणाम चेतना का परिष्कार है। इस प्रकार वामन के विशिष्ट पद रचना ही रीति की सर्वमान्य परिभाषा रही है जो शब्दगुण और अर्थगुण पर आश्रित है। शब्दगुणों और अर्थगुणों में किसी न किसी प्रकार की विचित्रता विद्यमान रहती है और यह विचित्रता ही रचना में चमत्कार उत्पन्न करती है। वामन के बाद रुद्रट ने वैदर्भी, गौड़ीया, पांचाली और लाटी ये चार रीति मानी है। भोजराज के अनुसार रीति का अर्थ 'कवि गमन मार्ग' है। उन्होंने छः रीतियाँ वैदर्भी, पांचाली, गौड़ीया, आवन्तिका, लाटी और मागधी मानी हैं। मम्मट ने रीति की उपयोगिता तो स्वीकार की है किन्तु उसे काव्य की आत्मा नहीं माना। उनकी दृष्टि में 'रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्' अर्थात् रीति अवयव के समान हैं जो उपयोगी और शोभाजनक भी है किन्तु काव्य की आत्मा नहीं है। इस प्रकार इसके पश्चात् साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व ध्वनि का विवेचन किया गया है। ध्वनि एवं ध्वनि का सम्पूर्ण विवेचन सौन्दर्य या चमत्कृति की ही उपपत्ति का प्रयास है, जिसका सम्बन्ध एक ओर सहृदय—हृदय से आह्लादकत्व को लेकर दूसरी ओर प्रतिभाजन्यता को लेकर कवि से और आत्मैकिकता को लेकर काव्य के समस्त उपकरणों से है। इसके बिना न कवि में कवित्व है और न काव्य में काव्यत्व स्थिति संभव है।

14.6 शब्दावली

आधायक	—	विशेष रूप से धारण करने वाला
उपकरण	—	साधन
अलंकार	—	शोभा को बढ़ाने वाला
रीति	—	काव्य के विशेष मार्ग या रीति पद्धति
ध्वनि	—	शब्द का व्यापार
वनिता	—	स्त्री

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अभिनवभारती के तीन अध्याय, अभिनवगुप्त, सम्पा. नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दि.वि. दिल्ली प्र.स. 1960

- औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र व्याख्या. ब्रजमोहन झा ,चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982
- काव्यप्रकाश मम्मट, सम्पा. एवं व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
- काव्यादर्श, दण्डी, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. क्षेमेन्द्रकुमार गुप्त, मेहर चन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1973
- काव्यालंकार भामह, सम्पा. एवं व्याख्या देवेन्द्रनाथ शर्मा, विहार राष्ट्र भाषा-परिषद् पटना, 1985
- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. वेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,
- काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, सम्पा. एवं व्याख्या डा. रामानन्द शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2000
- ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, विश्वेश्वरकविचन्द्र सिद्धान्त शिरोमणि ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी, 1998
- नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, बटुक नाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय चौ.सं.संस्थान, वाराणसी, 1980
- अभिज्ञानशाकुन्तलम् एक अध्ययन , काशीनाथ द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- ध्वन्यालोक लोचन अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक की टीका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1911
- वक्रोक्तिजीवितम्, कुन्तक, राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2007
- व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, रेवाप्रसाद द्विवेदी ,चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1987
- सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, कामेश्वर नाथ मिश्र चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी 1979
- साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, व्याख्याकार डा. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1976
- भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 1, 2 बलदेव उपाध्याय, भा. व. उ. प्रसाद परिषद् काशी वि. सं. 2007
- भारतीय सौन्दर्यदर्शन, ब्रजमोहन चतुर्वेदी, मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, मध्यप्रदेश, 1998
- संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, अष्टम खण्ड काव्यशास्त्र, उ.प्र.सं.सं.लखनऊ,
- कालिदास ग्रन्थावली, सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1960
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कपिलदेव द्विवेदी, साहित्य संस्थान, इलाहाबाद

ENGLISH REFERENCE

- (1) B.M.Chatturvedi, **Some unexplored Aspects of the Rasa Theory**, vidyanidhi Prakashan, ed.1906
- (2) S.K De, **History of Sanskrit Poetics**.,Firma KLM PVT Ltd.Calcutta,1976.
- (3) Raniero Gnoli, **The Aesthetic experience according to Abhinavagupta**; chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1968
- (4) P.V Kane, **History of Sanskrit Poetics**,MLBD,Delhi,f.ed. 1961
- (5) A.B Keith, **History of Sanskrit literature**, oxford, 1928
- (6) V.Raghvan, **The Number of Rasas**, University of Madras, 1949, Adyar Library Adyar,1940
- (7) V.Raghvan,**Some Concepts of Alankar Shastras**, Adyar Library, Adyar, 1942

14.8 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- क) (i) भामह (ii) काव्यालंकार (iii) मम्मट (iv) वामन
 ख) (i) आनन्दवर्धन (ii) ध्वन्यालोक (iii) अभिनवगुप्त (iv) 3

बोध प्रश्न-2

क) रीति शब्द 'री' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ मार्ग, शैली, विधा है। प्रकारान्तर से इसे पन्थ, वीथी, प्रणाली पद्धति भी कहा गया है। रीति की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य भोज ने कहा है कि वैदर्भी आदि मार्ग काव्य मार्ग कहे गये हैं। रीति शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्गतौ' (चलना) गत्यर्थक 'रीङ्' धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है—'रीङ्वतीविति धातौ सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते' (भोज सरस्वती कण्ठाभरण 3.51)

साहित्यिक क्षेत्र में रीति का आशय कवि अथवा लेखक की विशिष्ट लेखन शैली में होता है। 'रीति' को पारिभाषिक रूप देने का श्रेय आचार्य वामन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को नहीं दिया जा सकता। पदों की विशिष्ट संघटना ही रीति होती है। इस प्रकार वामन के शब्दों में रीति ही काव्य की आत्मा है—

रीतिरात्मा काव्यस्य। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.6)

विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.7)

विशेषो गुणात्मा। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1.2.8)

यहाँ पर विशिष्ट से उनका तात्पर्य गुणयुक्तता से था, जो गुण शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म है—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। (वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3.1.1)

वामन कृत उक्त परिभाषा में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगत होते हैं—प्रथम, विशिष्ट पद रचना ही रीति है तथा द्वितीय यह कि वह शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऐसी विशिष्ट पद रचना, जिसमें शब्द और अर्थगत चमत्कार सन्निवेश हो, 'रीति' कहलाती है। उनका रीति—विभाजन प्रादेशिक सीमाओं पर अवलम्बित न होकर गुणो पर आश्रित था। उन्होंने तीन रीतियों वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली का विवेचन किया।

ख) भारतीय काव्य शास्त्र में आचार्यों की ऐसी परम्परा विद्यमान है, जो अलंकारों को काव्य—सौन्दर्य का मूल हेतु स्वीकार करते हुए उसे ही काव्य सर्वस्व उद्घोषित करती है। अलंकार सम्प्रदाय का स्थान रस सम्प्रदाय के बाद आता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई आलंकारिकों का उल्लेख किया है—'आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमकं यमः, चित्रं चित्रङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, औपम्यौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुत्थः, उभयालंकारिकं कुबेरः।' (काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय शास्त्र संग्रह का प्रथम परिच्छेद) किन्तु इनमें से किसी की भी कृति उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ही हैं जिनकी कृति उपलब्ध है। अतः भामह को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। भामह ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना है। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य में प्रधान है—'तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।' (अलंकार सर्वस्व पृष्ठ 307) रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' अलंकारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें 65 अर्थालंकारों और तीन शब्दालंकारों का वर्णन है। 'अलम्' पूर्वक 'कृ' धातु के योग से 'करण' या 'भाव' अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इनमें 'अलम्' एक अव्यय शब्द है, जिसका अर्थ योग्य या पर्याप्त है। इस प्रकार अलंकार शब्द से तात्पर्य ऐसे तत्त्व से था, जो पर्याप्त अथवा योग्य बना दे। प्रकारान्तर से 'अलङ्करोति इति अलंकारः' तथा 'अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कारः' अतः अलंकार ऐसा तत्त्व है, जो चमत्कार अथवा सौन्दर्य को परिपूर्णता तक पहुँचाते हैं। आचार्य भामह ने काव्य में अलंकारों को अंगी रूप में स्वीकार करके रस आदि को उसके अंग रूप में प्रतिपादित किया। भामह के शब्दों में—'न कान्तमपि निर्भूषं विभातिवनितामुखम्' अर्थात् जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुये भी भूषण के बिना शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार सुन्दर सरस काव्य की शोभा भी अलंकारों से होती है। अतः भामह ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट किया तथा उसको काव्य का प्राणतत्त्व माना। उन्होंने कहा है कि शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। (काव्यालंकार 1.30)

वाचां वकार्थं शब्दोक्तिरलंकारायकल्पतेः॥ (काव्यालंकार 5.60)

उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाय कि हे रावण! तुम सीता को लौटा दो अन्यथा राम तुम्हारा वध कर देंगे तो यह वाक्य काव्य नहीं कहलायेगा। यदि इसे इस प्रकार कहा जाय—

न स संकुचितः पन्था येन बलि हतो गतः।

समये तिष्ठ लंकेश मा बालिपथमन्वगाः॥

अर्थात् हे रावण! जिस मार्ग से बाली मर कर गया है वह मार्ग संकुचित नहीं है। इसलिये समय रहते सम्भल जा। बाली के मार्ग का अनुसरण न कर।" इस कथन

में एक चमत्कार आ गया है। अतः यह उत्तम काव्य कहलाता है। इस प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए कहा कि वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार सत्ता कदापि सम्भव नहीं—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना।। (काव्यालंकार 2.85)

अभ्यास प्रश्न—

इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।



इकाई 15 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व—वक्रोक्ति और औचित्य

इकाई की रूपरेखा

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक वक्रोक्ति तत्त्व
- 15.3 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक औचित्य तत्त्व
- 15.4 सारांश
- 15.5 शब्दावली
- 15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 15.7 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक वक्रोक्ति तत्त्व को जान पायेंगे।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक औचित्य तत्त्व को जान पायेंगे।
- साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्वों में प्रयुक्त तकनीकी शब्दावली को जान पायेंगे।

15.1 प्रस्तावना

परिवर्तन सृष्टि का नियम है, तो सृजन मात्र का धर्म है। सर्जना की इस कड़ी में सौन्दर्य का अपना एक विशेष स्थान है। यह सौन्दर्य प्रकृति, जीवन और जगत में सर्वत्र व्याप्त है। प्रकृति और मानव के आभ्यन्तर और बाह्य सौन्दर्य से प्रेरित होकर ही काव्य सृजन होता है। भारतीय आचार्यों एवं मनीषियों ने सौन्दर्य को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा एवं परखा है क्योंकि प्रारम्भ से ही भारत आत्मवादी रहा है। यह आत्मा आनन्दस्वरूप है और इस आत्मा को पाकर व्यक्ति आनन्दमग्न हो जाता है। काव्यामृत का पान करके मनुष्य भी आनन्दमग्न हो जाता है। काव्य के इस आनन्दस्वरूप को देखकर काव्यशास्त्रियों ने उसमें आत्म-तत्त्व की खोज करने का प्रयत्न किया। इसी आत्मा के सूक्ष्म-चिन्तन के अन्तर्गत अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, रस और औचित्य को आचार्यों ने काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया, जिसके फल स्वरूप छः सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इस इकाई में साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व वक्रोक्ति और औचित्य के अन्तर्गत वक्रोक्ति और औचित्य तत्त्व का विवेचन किया जायेगा।

15.2 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक वक्रोक्ति तत्त्व

आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को काव्यात्मा रूप में प्रतिपादित करके काव्य के समालोचनात्मक मार्ग में एक नवीन मार्ग का सृजन किया। परिणामस्वरूप उनके द्वारा वक्रोक्ति की विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गयी—'वैदग्ध्यभंगीभणिति' अर्थात् वाक्य

कुशल पुरुष अपने भावों के अभिव्यक्तिकरण के लिए अपनी वाणी में जिस भंगिमा-विशेष का आश्रयण ग्रहण करते हैं, उसे अर्थगत साम्य के आधार पर वक्रोक्ति कहा जाता है। इस प्रकार कुन्तक ने सहृदयाह्लादक तथा अलौकिक काव्य-तत्त्व को वैचित्र्य पूर्ण करते हुए 'वक्रोक्ति' संज्ञा से संज्ञित करके अपनी प्रखर प्रज्ञा के माध्यम से एक विशिष्ट सिद्धान्त को साहित्य शास्त्र में प्रवर्तित किया।

साहित्य जगत् में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। वक्रोक्ति शब्द की रचना (वक्र+उक्ति) से होता है, जिसका अभिप्राय शब्दार्थ का लोक व्यवहार से पृथक् टेढ़े रूप में अर्थात् भिन्न रूप से कहना है। प्रकारान्तर से जन साधारण से विलक्षण प्रकार का कथन 'वक्रोक्ति' है। प्राचीन काल में इस शब्द का प्रयोग वाक्छल, परिहास कथन, वचनविदग्धता, क्रीड़ालाप आदि अर्थों में किया जाता था। यद्यपि भारतीय साहित्य शास्त्र का प्रारम्भ आचार्य भामह से माना जाता है, तथापि उनसे पूर्व भी बाणभट्ट कृत कादम्बरी तथा अमरकृत अमरुशतकम् में वक्रोक्ति का प्रयोग दृष्टिगत होता है—

“वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण। (बाणभट्ट, कादम्बरी)

सा पत्युःप्रथमेऽपराधसमये सख्योपदेशं बिना।

नो जानाति सविभ्रमांगवलना वक्रोक्तिसंसूचनम्॥

(अमरक, अमरुशतक पृ. 21)

जहाँ उसका अभिप्राय सरल उक्ति से भिन्न चातुर्य पूर्ण कथन से था किन्तु अब साहित्य जगत् में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अलंकार विशेष के रूप में अथवा विशिष्ट काव्य शैली के रूप में किया जाता है।

'वक्रोक्ति' शब्द का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सर्वप्रथम भामह ने किया था। विषय व्यापकता की दृष्टि से भामह यद्यपि अलंकारवादी आचार्य थे तथापि वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ को अनुस्यूत करके उन्होंने स्वयं को वक्रोक्तिवादी सिद्ध करने का प्रयास किया—

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।

(भामह, काव्यालंकार 5.66)

उसका कथन था कि काव्य का सौन्दर्याधायक तत्व अलंकार है और किसी भी अलंकार का अस्तित्व वक्रोक्ति के अभाव में सम्भव ही नहीं है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

(भामह काव्यालंकार 2.85)

क्योंकि वक्रोक्ति रहित वाक्य तो काव्य न होकर वार्ता मात्र रहता है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्तिवासाय पक्षिणः,

इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

(भामह, काव्यालंकार 2.87)

उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति शब्दालंकार या अर्थालंकार मात्र ही नहीं, अपितु वह तो अलंकारों में विद्यमान चमत्कार का नियोजन हेतु है। वक्रोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए भामह कहते हैं कि वक्रोक्ति की स्थिति शब्द और अर्थ दोनों में होती है—

“वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।”

(भामह, काव्यालंकार 1.36)

दूसरे शब्दों में शब्द और अर्थ की समन्वित वक्रता ही वक्रोक्ति कहलाती है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वक्रोक्ति सम्पूर्ण अलंकारों की मूलाधार होती है। उनके अभाव में किसी भी प्रकार के अलंकार की स्थिति सम्भव नहीं—

हेतुः सूक्ष्मोऽथश्लेषश्च नालंकारतया मतः।

समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।।

(भामह, काव्यालंकार 2.86)

भामह के पश्चात् दण्डी ने वक्रोक्ति स्वरूप विवेचित किया। यद्यपि दण्डी ने भी वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल स्वीकार किया—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।

वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

(दण्डी, काव्यादर्श 2.220)

तथापि उनका वक्रोक्ति विवेचन भामह से कतिपय भिन्नता लिये हुए था। उन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया—स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति—

द्विधा भिन्नं स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

(दण्डी, काव्यादर्श 2.362)

पदार्थ का साक्षात् स्वरूप वर्णन करना स्वाभावोक्ति है, जिसका साम्राज्य शास्त्रादि क्षेत्रों में होता है। किन्तु वक्रोक्ति में यही वर्णन स्वाभाविक न होकर वक्रतापूर्ण होता है। वक्रोक्ति को उन्होंने अलंकार विशेष का नाम नहीं दिया अपितु उपमा आदि सभी अलंकारों का वक्रोक्ति के रूप में प्रतिपादन किया—

वक्रोक्तिशब्देनं उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकाराः उच्यन्ते।

(दण्डी, काव्यादर्श 2.8)

भामह की भाँति दण्डी ने भी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायवाची मानकर अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना था—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।

वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

(दण्डी, काव्यादर्श 2.226)

वामन के अनुसार वक्रोक्ति एक अर्थालंकार हैं, जिसका लक्षण है—सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। (वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 4.3.8)

उन्होंने इसे विशिष्ट अलंकार अवश्यमेव माना परन्तु आचार्यों की भाँति उसे शब्दालंकार न मानकर अर्थालंकार मात्र माना। इसके अतिरिक्त वामन रीतिवादी आचार्य थे। अतः उन्होंने काव्यगत सौन्दर्य वक्रोक्ति की अपेक्षा रीति पर आश्रित माना।

ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को कुछ अधिक व्यापक रूप प्रदान किया। उन्होंने 'ध्वन्यालोक वृत्ति' में वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्याय तथा समस्त अलंकारों का मूल रूप माना—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना ।।

(भामह, काव्यालंकार 2.85)

ध्वन्याचार्य अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति की पर्यायता स्वीकार करते हुए इनको काव्य सौन्दर्य का अभिव्यंजक मानते हैं उनके अनुसार सभी अलंकार अतिशयोक्ति गर्भित होते हैं तथा यह अतिशयोक्ति ही काव्य में अलौकिक शोभा को सम्पादित करती है—

यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया ।

कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छदि पुष्यति ।।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 3.37 की वृत्ति)

इस सन्दर्भ में उनका अभिमत है कि यह वही वक्रोक्ति है, जिसके द्वारा पदार्थ चमत्कृत हो उठते हैं, कवियों को इसके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

काव्यप्रकाश प्रणेता आचार्य मम्मट का वक्रोक्ति वर्णन आनन्दवर्धन कृत वक्रोक्ति से मिलता जुलता है। यद्यपि उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानकर उसके श्लेष और काकु रूप से दो भेद किये—

यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।

श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ।।

(मम्मट, काव्यप्रकाश 9.78)

तथापि विशेष नामक अलंकार विवेचन में वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों को प्राण रूप में प्रतिपादित किया—“सर्वत्र एवविधाविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां बिना प्रायेणअलंकारत्वायोगात् ।” (मम्मट, काव्यप्रकाश 10.36 की वृत्ति)

मम्मटाचार्य के अनन्तर भोज ने वक्रोक्ति को और अधिक व्यापक रूप प्रदान किया। उनके शब्दों में काव्य सौन्दर्य तीन प्रकार का होता है—वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वाभावोक्ति—**वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् । (भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण 58)**

उपमा आदि अलंकारों का प्राधान्य होने पर वक्रोक्ति, गुणों का प्राधान्य होने पर स्वाभावोक्ति तथा जहाँ विभावो, अनुभावों तथा संचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है, वहाँ रसोक्ति होती है—**त्रिविधा खलु अलंकारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्ति रसोक्तिः इति । तत्रोपमाद्यलंकार प्राधान्ये वक्रोक्ति सोऽपि गुण प्राधान्ये स्वभावोक्तिः विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगादरसनिष्पत्तौ रसोक्तिः इति । (भोज, श्रृंगार प्रकाश 211)**

कुन्तक प्रणीत वक्रोक्ति विवेचन भामह से पूर्णरूपेण प्रभावित था क्योंकि वक्रोक्ति को जो सम्मान भामह आचार्य द्वारा दिया गया था, वह सम्मान उनके पश्चात् कुन्तक के द्वारा ही दिया गया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्यगत आधार भूत तत्त्व प्रमाणित किया

तथा स्पष्ट शब्दों में कहा कि वक्रोक्ति के अभाव में काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वक्रोक्ति स्वरूप को दृष्टिगत करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है—

वक्रोक्ति: प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।

(कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित 1.10 की वृत्ति)

वस्तुतः विचित्र अभिधा को ही कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है। यहाँ विचित्र शब्द का तात्पर्य है प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न शैली का प्रयोग तथा प्रसिद्ध से उनका अभिप्राय शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त शैली से है। इस विचित्रोक्ति अथवा वक्रोक्ति की व्याख्या कुन्तकाचार्य ने इस प्रकार की है—शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द अर्थ के प्रयोग से भिन्न प्रयोग—‘शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि’ (कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित 1.7 की वृत्ति) लोक आदि में प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न शब्दार्थ का प्रयोग ‘प्रसिद्ध प्रस्थानव्यतिरेकि वैचित्र्यम्’ (कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित 1.18 की वृत्ति) लोक में प्रसिद्ध शब्द—अर्थ के व्यवहार मार्ग को अतिकान्त करने वाला शब्दार्थ का प्रयोग—‘अतिकान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः’ कुन्तक वक्रोक्ति जीवित 1.19 की वृत्ति अर्थात् कुन्तक द्वारा दी गयी वक्रोक्ति की परिभाषा को परवर्ती काव्याचार्यों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। व्यक्ति—विवेक के रचयिता महिमभट्ट का कथन है कि शास्त्रादि के प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग करके चमत्कार की सिद्धि के लिये उसी अर्थ को जब प्रकारान्तर से कहा जाता है उसी को वक्रोक्ति कहते हैं—

“प्रसिद्धमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।

अन्यर्थवोच्येत सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहता।।”

(महिमभट्ट व्यक्तिविवेक 1.66)

ध्वनिवादी आचार्यों ने भी काव्य को लोकोत्तर वर्णन में निपुण कविकर्म बताया—‘लोकोत्तरवर्णननिपुणकविकर्म’ (मम्मट, काव्यप्रकाश 1.2 की वृत्ति)

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक विशिष्ट सौन्दर्य वादी आचार्य है। उन्होंने शब्द और अर्थ को अलंकार्य मानकर वक्रोक्ति को उसका अलंकार माना है।

15.3 साहित्य में प्रमुख सौन्दर्यात्मक औचित्य तत्त्व

चारुत्व—प्रवाह में जो स्थान गुण, अलंकार, वक्रोक्ति आदि का है, वही स्थान अनुभूति प्रवाह में औचित्य का है, जिसका रसादि तत्त्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। रस सिद्ध काव्य का प्राण औचित्य ही है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर पर हारादि आभूषण उनके बाह्य सौन्दर्य के प्रसाधक होते हैं, किन्तु सत्य, शीलत्वादि गुण आभ्यन्तर सौन्दर्य के प्रकाशक होते हैं, उसी प्रकार काव्य शरीर में औचित्य की भी आन्तरिक तथा अविनश्वर सत्ता है। काव्य में गुण, अलंकार, रीति, रस आदि उसी स्थिति में चमत्कार अथवा रमणीयता उत्पन्न करने में समर्थ हैं, जबकि उनका प्रतिपादन औचित्य पूर्ण ढंग से किया गया हो। औचित्य के अभाव में कवि उपहास और निन्दा का पात्र होता है। औचित्य की प्रतिष्ठा क्षेमेन्द्र ने भगवान् विष्णु के माध्यम से की थी। विष्णु ही परम औचित्य के प्रतिष्ठापक हैं—

अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे।

(औचित्यविचारचर्चा—1)

काव्यगत औचित्य का विचार करने के लिये ही क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' नामक ग्रन्थ की रचना की—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।

रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ।।

(औचित्यविचारचर्चा—3)

औचित्य का लक्षण क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार किया है कि—

उचित प्राहुराचार्याः सदृश किलं तस्य तत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।

(औचित्यविचारचर्चा—7)

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको आचार्य उचित कहते हैं। उचित का जो भाव है, वह औचित्य कहलाता है। यह औचित्य काव्य में ही नहीं लोक में भी सब स्थानों पर व्याप्त है। काव्यगत औचित्य की विशेषतायें इस प्रकार हैं—

- यह काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है।
- यह काव्य में आस्वाद्यता लाता है।

यह रस का जीवितभूत है। काव्य में औचित्य की इस महत्वपूर्ण स्थिति को दृष्टिगत करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि 'अलंकार तो अलंकार ही हैं, और गुण तो गुण ही हैं, परन्तु रस—सिद्ध काव्य का अविनाशी जीवन तो औचित्य ही है—

अलंकारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा ।

औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यजीवितम् ।।

(क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा कारिका 5)

वस्तुतः औचित्य काव्य का महत्वपूर्ण तत्त्व है, जो काव्य के प्रत्येक अंग में व्याप्त रहता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस तथ्य की ओर सदा दृष्टि रखी है कि विभिन्न तत्त्वों का विनियोजन औचित्य से युक्त होने पर काव्य में सौन्दर्य का आधायक होता है।

जिस प्रकार लोक में औचित्य से युक्त व्यवहार एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि करता है तथा व्यवहार के अनौचित्य से वही व्यक्ति अनादर तथा हास्यास्पदता का भागी होता है, उसी प्रकार काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति आदि तत्त्व उसी अवस्था में चमत्कार, रमणीयता या सौन्दर्य के उत्पादक होते हैं, जब कि उनका विनियोजन औचित्यपूर्ण होता है। औचित्य के अभाव में कवि उपहास और निन्दा का पात्र होता है। उन्होंने कहा है कि अलंकार तभी अलंकार होते हैं, जबकि वे औचित्य से च्युत नहीं होते—

उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।

औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।।

(क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा कारिका 6)

आचार्य क्षेमेन्द्र का अभिमत है कि औचित्य काव्य के प्रत्येक अंग में होना चाहिये। काव्य में जिस स्थान पर औचित्य का अभाव होता है, वहीं रस का भङ्ग होकर अरुचि उत्पन्न होती है। सौन्दर्य की भावना इसी औचित्य पर आधारित है। यदि कोई सुन्दरी तरुणी कण्ठ में मेखला पहल ले, नितम्बों पर हार धारण कर ले, हाथों में नूपुर पहन ले और चरणों में केयूर डाल ले, तो कौन उसका उपहास नहीं करेगा? इसी प्रकार यदि कोई वीर पुरुष विनम्र शरणागत पर तो वीरता दिखाए तथा शत्रु पर करुणा को प्रदर्शित करे तो कौन उसका उपहास नहीं करेगा? यही स्थिति काव्य में है, जिसमें कि औचित्य के अभाव में न तो अलंकार और ना ही गुण रमणीयता तथा रोचकता के उत्पादक होते हैं—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा

पाणौ नूपुराबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।

शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्

औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिनो गुणाः ।।

(औचित्यविचारचर्चा—6 की व्याख्या से।)

केवल अलंकार और गुण ही नहीं अपितु रस भी काव्य में तभी रमणीयता उत्पन्न करता है, जबकि उसका विन्यास औचित्य से पूर्ण होता है।

काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य के व्याप्त होने के कारण ही आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व को काव्य की आत्मा या जीवन कहा है। औचित्य को काव्य का जीवन कहने का रहस्य यही है कि रस में रसत्व, अलंकार में अलंकारत्व, गुण में गुणत्व और रीति में रीतित्व तभी होते हैं, जबकि इनका संविधन औचित्यपूर्ण होता है। औचित्य के अभाव में ये तत्त्व विरसता ही उत्पन्न करेंगे तथा उस काव्य में काव्यत्व नहीं होगा।

काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य निहित रहता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र का कथन है कि औचित्य के भेद अनन्त होते हैं और उनकी गणना नहीं की जा सकती। कुछ भेदों की उन्होंने गणना की है और उनके उदाहरण दिये हैं। शेष के लिये उनका कहना है कि इनकी कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिये—

अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम् ।

तदुदाहरणान्यानन्त्यान् प्रदर्शितानीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।।

(औचित्यविचारचर्चा—39)

क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थों में औचित्य के 27 भेदों का विवेचन किया है—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणलङ्करणे रसे ।

क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ।।

उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।

तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ।।

अर्थात् पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशिष ये सत्ताइस भेद हैं।

इस प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य के व्याप्त रहने से औचित्य के अनेक भेद हो सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने मुख्य 27 भेदों का कथन करके कह दिया कि उनकी कल्पना विचारक को स्वयं कर लेनी चाहिये।

औचित्य काव्य के प्रत्येक अंग में व्याप्त रहता है, इस विषय में किसी आचार्य ने अपना विमत प्रकट नहीं किया है। काव्य में औचित्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी आचार्यों ने किया था। 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत का मन्तव्य था कि नाटक के अभिनय में लोक से सिद्ध धर्मों का ही ग्रहण करना चाहिये—

“लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।

तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते।।”

(भरत, नाट्यशास्त्र 26.113)

क्योंकि प्रकृतियों के शील अनेक प्रकार के होते हैं, अतः नाट्य में उनका प्रयोग लोक प्रामाण्य से करना ही उचित है—

नानाशीलाः प्रकृतयः शीलं नाट्ये प्रतिष्ठितम्।

तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्योक्तृभिः।।

(भरत, नाट्यशास्त्र 26.119)

नाट्यशास्त्र में यद्यपि औचित्य पद का व्यवहार नहीं किया गया है, तथापि नाटक के अभिनय के लिये जो निर्देश भरत मुनि ने दिये हैं, उनमें औचित्य का क्रियात्मक महत्व दृढ़ता से प्रतिपादित किया गया है। भरत का कथन है कि नाटक के पात्रों की वेशभूषा उनके देश और आयु के अनुरूप होनी चाहिये। जो वेश देश के अनुरूप नहीं है, वह शोभा का आधायक नहीं हो सकता, जैसे कि वक्ष और मणिबन्ध पर मेखला को पहनना उपहास का कारण होता है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।।

(भरत, नाट्यशास्त्र 23.69)

अभिनय में वेशभूषा आयु के अनुसार होनी चाहिये, गति एवं क्रियाएँ वेश के अनुसार होनी चाहियें, संवाद आदि गति प्रचार के अनुरूप होने चाहिये और अभिनय को संवाद आदि के अनुरूप होना चाहिये—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तुवेशो वेशानुरूपस्तु गतिप्रचारः ।

गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठयानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ।।

(भरत, नाट्यशास्त्र 14.68)

भामह का कथन था कि काव्य में औचित्य सबसे बड़ा गुण है। सबसे बड़ा दोष उन्होंने अनौचित्य को माना था। दोषों का विचार करते हुये वे लिखते हैं कि दुष्ट उक्ति भी सन्निवेश की विशेषता से उसी प्रकार शोभाजनक हो जाती है, जिस प्रकार मालाओं के मध्य में गूँथा गया नील पलाश शोभाजनक होता है—

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।

नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ।।

(भामह, काव्यालंकार)

जिस प्रकार कामिनी के नयन में लगाया गया काला काजल उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है, उसी प्रकार असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से शोभा का आधान करती है—

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि ।

कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ।।

(भामह, काव्यालंकार 1.55)

पुनरुक्ति को यद्यपि दोष माना गया है, तथापि भय, शोक, असूया, हर्ष और विस्मय के भावों की अभिव्यक्ति में वह दोष नहीं होता है—

भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।

यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद् विदुः ।।

(भामह काव्यालंकार 4.14)

‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ में ‘न खलु न खलु बाणः’ पद्य में पुनरुक्ति से सौन्दर्य में वृद्धि ही हुई है। गुण और दोष के विधान में औचित्य और अनौचित्य की कारणता को दण्डी ने भी प्रतिपादित किया था। उनका कथन है कि समुदायार्थ शून्य वाक्य में तो अपार्थ दोष होता है, परन्तु उन्मत्तों, मत्तों और बालकों के आलाप में यह दोष नहीं रहता—

समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते ।

उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ।।

(काव्यादर्श 4.5)

परस्पर विरुद्ध अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्य में व्यर्थ दोष होता है, परन्तु किसी वस्तु के अत्यधिक आसक्ति के प्रसङ्ग में यह गुण हो जाता है—

अस्ति काचिदवस्थां सा साभिषङ्गस्य चेतसः ।

यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती ।।

(काव्यादर्श 4.10)

देश, काल, कला, लोक, न्याय तथा आगम से विरुद्ध कथन को काव्य में दण्डी ने विरोध दोष बताया है। परन्तु विशेष परिस्थितियों में कवि कौशल के कारण यह विरोध भी गुण बन जाता है—

विरोधः सकलोऽप्येषः कदाचित् कविकौशलात् ।

उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।।

(काव्यादर्श 4.57)

अलंकारवादी आचार्य काव्य की रचना में औचित्य को विशेष महत्व देते हैं। अनुप्रास अलंकार के प्रयोग का आधार उन्होंने औचित्य को ही स्वीकार किया था—

एतः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थाम् ।

मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ।।

(रुद्रट, काव्यालंकार 2.32)

यमक अलंकार के प्रयोग में भी उन्होंने औचित्य को महत्व दिया। यमक अलंकार को प्रयोग वही कवि कर सकता है, जो औचित्य का पारखी होता है—

इति यमकविशेषं सम्यगालोचयद्भिः सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः ।

सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ।।

(रुद्रट, काव्यालंकार 3.59)

रुद्रट ने दोषों की विवेचना करते हुये बताया कि ये अनौचित्य के कारण ही होते हैं। देश, कुल, जाति, विद्या, धन, आयु, स्थान और पात्रों के व्यवहार, आकार, वेश और वचनों में अनौचित्य का होना ही ग्राम्यत्व दोष है—

ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेशवचनानाम् ।

देशकुलजातिविद्यावित्तवयः स्थानपात्रेषु ।।

(रुद्रट, काव्यालंकार 3.59)

उन्होंने अलंकार, गुण, रीति, रस आदि सभी तत्वों के विनियोजन में औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। काव्य में अलंकारों का सन्निवेश रसोचित्य की दृष्टि से ही करना चाहिए। काव्य में रस ही प्रधान अलंकार्य है तथा रस आदि को लक्ष्य कर नियोजित अलंकार ही अलंकारत्व को प्राप्त करने में समर्थ है—

रसाभावादि तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।

अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ।।

(आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक 3.6)

आनन्दवर्धन न अलंकारों के साथ ही गुण, रीति, वृत्ति, संघटना, प्रबन्ध और रसौचित्य का भी प्रतिपादन किया। उन्होंने अनौचित्य को रस भंग का कारण स्वीकार करते हुए लिखा 'अनौचित्य ही रस भंग का प्रधान कारण है, अनुचित वस्तु के सन्निवेश से काव्य में रस परिपाक सम्भव नहीं—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्यकारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक पृष्ठ 302)

वृत्तौचित्य के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने कहा है कि रसानुकूल शब्द और अर्थ का जो औचित्य पूर्ण व्यवहार है, वह दो प्रकार की वृत्ति ही है—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।

औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा स्थिताः ।।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 3.33)

अनुचित रूप से नियोजित होने पर ये वृत्तियाँ रस-भंग का कारण होती हैं—‘यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तरप्रसिद्धानां उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्य तदपि रसभंगहेतुः’ (आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 3.33 की वृत्ति)

उन्होंने प्रबन्धौचित्य को भी अनिवार्यता प्रतिपादित की है तथा अलंकार, गुण, रीति, संघटना और प्रबन्ध इन सभी तत्त्वों का नियोजन रसौचित्य की दृष्टि से किया। वही रचना सौन्दर्य युक्त है, जिसमें औचित्य निबन्धन के अनुकूल होता है—

विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः ।

विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्यसोत्प्रेक्षितस्य च ।।

इतिवृत्तवशायातां त्यक्ताऽनुगुणां स्थितिम् ।

उत्प्रेक्ष्याभ्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोन्नयः ।।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 3.67)

रसानुकूल शब्द और अर्थ का नियोजन ही महाकवि का मुख्य कर्म होता है—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।

रसादिविषयेणैतद् मुख्यं कर्म महाकवेः ।।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 3.32)

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने औचित्य सिद्धान्त को व्यापक रूप प्रदान किया। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनव गुप्त ने भी औचित्य की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका मत था कि अलंकार्य रस को अनुचित रूप से अलंकृत करने वाले अलंकारों का ही काव्य में अनौचित्य होता है। यथा मृत शरीर पर स्वर्णाभूषण हास्यास्पदता को प्राप्त होते हैं—तथाहि अचेतनं शवशरीरं, कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति । अलंकार्यस्याभावात् । यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्यानौचित्याद् ।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 2.6 वा लोचन टीका)

रस ध्वनि के साथ औचित्य का नित्य सम्बन्ध है तथा औचित्य रस ध्वनि का प्राणभूत

है। इसका अभिनव गुप्त ने स्पष्ट निर्देश किया था—उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्वं सूचयति तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोदघोषयते इति भावः।

(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 3.6)

वक्रोक्तिकार कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' में वक्रोक्ति को काव्य जीवित स्वीकार करते हुए भी औचित्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया अथवा उनके अनुसार काव्य का प्राण तत्व तो वक्रता ही है, किन्तु वक्रता का मूलाधार औचित्य ही है। वक्ता या श्रोता के अति मधुर स्वभाव द्वारा वाच्य वस्तु को सर्वथा आच्छादित कर दिया जाना भी औचित्य ही है—

यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं षोभातिशायिना।

आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते।।

(कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित 1.54)

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के सिद्धांत की स्थापना करके इस तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र का मन्तव्य है कि औचित्य ही काव्य का प्राणरूप है। जिस काव्य में उसका जीवितभूत औचित्य नहीं हैं, उसमें अलंकारों तथा गुणों का विनियोजन सर्वथा व्यर्थ है—

काव्यास्यामलङ्कारैः कि मिथ्यागणितैर्गुणैः।

यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।

(औचित्यविचारचर्चा-4)

अलंकार तो अलंकार ही हैं और वे बाह्य उपकरण हैं। गुण यद्यपि अन्तरङ्ग तत्व हैं, तथापि वे गुण ही हैं और प्राणों के प्रतिष्ठाता नहीं हैं। परन्तु रसों से निर्विष्ट काव्य का स्थिर जीवित तत्व तो औचित्य ही है।

बोध प्रश्न-1

क) निम्नलिखित प्रश्नों के ठीक उत्तरों पर सही (✓) का चिन्ह लगाइये

- वक्रोक्ति का तात्पर्य साहित्य में क्या है? (वैदग्ध्यभंगीभणिति/अभिधा)
- वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक का नाम क्या है? (कुन्तक/अभिनवगुप्त)
- वक्रोक्तिजीवितम् किसकी रचना है? (कुन्तक/मम्मट)

ख) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

- औचित्य सम्प्रदाय के समर्थक.....हैं। (अभिनवगुप्त/भामह)
- औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक..... हैं। (क्षेमेन्द्र/अभिनवगुप्त)
- औचित्यविचारचर्चा रचना हैं। (क्षेमेन्द्र/अभिनवगुप्त)

बोध प्रश्न-2

साहित्य में प्रमुख
सौन्दर्यात्मक
तत्त्व-वक्रोक्ति और
औचित्य

कुन्तक के मत में वक्रोक्ति सौन्दर्यात्मक तत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

क्षेमेन्द्र के मत में औचित्य सौन्दर्यात्मक तत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

अभ्यास प्रश्न

वक्रोक्ति नामक सौन्दर्यात्मक तत्त्व पर विस्तृत निबन्ध लिखिए।

15.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व वक्रोक्ति एवं औचित्य के अन्तर्गत प्रथमतः वक्रोक्ति का विवेचन किया गया है क्योंकि काव्य में सौन्दर्य या चमत्कार वक्रता के माध्यम से ही सम्भव है। कुन्तक ने वर्ण सौन्दर्य से लेकर प्रबन्ध सौन्दर्य तक वक्रता (वैचित्र्य) या चमत्कार का ही प्रभाव प्रदर्शित होता है इसलिए विशिष्ट वक्र उक्ति या चमत्कारी उक्ति ही कुन्तक के अनुसार काव्य की आत्मा है। इसके पश्चात् साहित्य के प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्त्व औचित्य का विवेचन करते हुए कहा है कि औचित्य का अभाव होने से भी काव्य का सारा आनन्द समाप्त हो जाता है। कोई भी रचना अलंकार, रस, गुणादि से कितनी ही अलंकृत क्यों न हो, किन्तु यदि उसमें औचित्य नहीं है, तो उसका समस्त सौन्दर्य समाप्त हो जाता है और वह रचना किसी भी स्थिति में सहृदयजन को चमत्कृत नहीं कर सकती अर्थात् केवल मात्र काव्य में ही नहीं अपितु कला के क्षेत्र में भी औचित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वही चित्र रोचक तथा रमणीय कहा जा सकता है, जिसमें चित्रित व्यक्तियों के अंग प्रत्यंग में, रूप-रंग में पारस्परिक अनुकूलता हो और औचित्य का सद्भाव हो।

15.4 शब्दावली

चारुत्व	—	शोभा
रमणीयता	—	सौन्दर्य
सौन्दर्य	—	सुन्दरता
औचित्य	—	उचित का भाव
अभिव्यंजक	—	विशेष रूप से व्यंजित करने वाला
आधायक	—	विशेष रूप से धारण करने वाला
पलाश	—	फूल
मेखला	—	करधनी
वक्ष	—	हृदयस्थल

15.5 कुछ उपयोगी पुस्तके

- अभिनवभारती के तीन अध्याय, अभिनवगुप्त, सम्पा. नगेन्द्र, हिन्दी विभाग दि.वि. दिल्ली प्र.स. 1960
- औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र व्याख्या. ब्रजमोहन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982
- काव्यप्रकाश मम्मट, सम्पा. एवं व्याख्या, विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी
- काव्यादर्श, दण्डी, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. क्षेमेन्द्रकुमार गुप्त, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1973
- काव्यालंकार भामह, सम्पा. एवं व्याख्या देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना, 1985
- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, सम्पा. एवं व्याख्या. डा. वेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,
- काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, सम्पा. एवं व्याख्या डा. रामानन्द शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2000
- ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, विश्वेश्वरकविचन्द्र सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी, 1998
- नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय, चौ.सं.संस्थान, वाराणसी, 1980
- अभिज्ञानशाकुन्तलम् एक अध्ययन, काशीनाथ द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- ध्वन्यालोक लोचन अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक की टीका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1911
- वक्रोक्तिजीवितम्, कुन्तक, राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 2007
- व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1987
- सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी 1979
- साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, व्याख्याकार डा. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1976
- भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 1, 2 बलदेव उपाध्याय, भा. व. उ. प्रसाद परिषद् काशी वि. सं. 2007
- भारतीय सौन्दर्यदर्शन, ब्रजमोहन चतुर्वेदी, मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, मध्यप्रदेश, 1998
- संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, बलदेव उपाध्याय, अष्टम खण्ड काव्यशास्त्र, उ.प्र.सं.सं.लखनऊ,

- कालिदास ग्रन्थावली, सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1960
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कपिलदेव द्विवेदी, साहित्य संस्थान इलाहाबाद

ENGLISH REFERENCE

- (1) B.M.Chatturvedi, **Some unexplored Aspects of the Rasa Theory**, vidyanidhi Prakashan, ed.1906
- (2) S.K De, **History of Sanskrit Poetics...**, Firma KLM PVT Ltd. Calcutta, 1976.
- (3) Raniero Gnoli, **The Aesthetic experience according to Abhinavagupta**; chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1968
- (4) P.V Kane, **History of Sanskrit Poetics**, MLBD, Delhi, f.ed. 1961
- (5) A.B Keith, **History of Sanskrit literature**, oxford, 1928
- (6) V.Raghvan, **The Number of Rasas**, University of Madras, 1949, Adyar Library Adyar, 1940
- (7) V.Raghvan, **Some Concepts of Alankar Shastras**, Adyar Library, Adyar, 1942

15.6 बोध/प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- क) (i) वैदग्ध्यभंगीभणिति (ii) कुन्तक (iii) कुन्तक
ख) (i) अभिनवगुप्त (ii) क्षेमेन्द्र (iii) क्षेमेन्द्र

बोध प्रश्न-2

- क) आचार्य कुन्तक ने काव्यात्मा रूप में प्रतिपादित करके काव्य के समालोचनात्मक मार्ग में एक नवीन मार्ग का सृजन किया। परिणाम स्वरूप उनके द्वारा वक्रोक्ति की विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गयी—**वैदग्ध्यभंगीभणिति** अर्थात् वाक्य कुशल पुरुष अपने भावों के अभिव्यक्तिकरण के लिए अपनी वाणी में जिस भंगिमा—विशेष का आश्रयण ग्रहण करते हैं, उसे अर्थगत साम्य के आधार पर वक्रोक्ति कहा जाता है। इस प्रकार कुन्तक ने सहृदयताह्लादक तथा अलौकिक काव्य—तत्त्व को वैचित्र्य पूर्ण करते हुए 'वक्रोक्ति' संज्ञा से संज्ञित करके अपनी प्रखर प्रज्ञा के माध्यम से एक विशिष्ट सिद्धान्त को साहित्य शास्त्र में प्रवर्तित किया। साहित्य जगत् में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। वक्रोक्ति शब्द की रचना (वक्र+उक्ति) से होता है, जिसका अभिप्राय है—शब्दार्थ का लोक व्यवहार से पृथक् टेढ़े रूप में अर्थात् भिन्न रूप से कहना। प्रकारान्तर से जन साधारण से विलक्षण प्रकार का कथन वक्रोक्ति है। प्राचीन काल में इस शब्द का प्रयोग वाक्छल, परिहास कथन, वचन विदग्धता, क्रीड़ालाप आदि अर्थों में किया जाता था। यद्यपि भारतीय साहित्य शास्त्र का प्रारम्भ आचार्य भामह से माना जाता है, तथापि उनसे पूर्व भी बाणभट्ट कृत **कादम्बरी** तथा अमरु कृत **अमरुशतकम्** वक्रोक्ति का प्रयोग दृष्टिगत होता है—**वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण। (बाणभट्ट, कादम्बरी)**

सा पत्युःप्रथमेऽपराधसमये सख्योपदेशं बिना ।

नो जानाति सविभ्रमांगवलना वक्रोक्तिसंसूचनम् ।।

(अमरु, अमरुशतक पृ. 21)

जहाँ उसका अभिप्राय सरल उक्ति से भिन्न चातुर्य पूर्ण कथन से था किन्तु अब साहित्य जगत् में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अलंकार विशेष के रूप में अथवा विशिष्ट काव्य शैली के रूप में किया जाता है। वक्रोक्ति स्वरूप को दृष्टिगत करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है—**वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । (कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित 1.10 की वृत्ति)**

वस्तुतः विचित्र अभिधा को ही कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है। यहाँ विचित्र शब्द का तात्पर्य है प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न शैली का प्रयोग तथा प्रसिद्ध से उनका अभिप्राय शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त शैली से है। इस विचित्रोक्ति अथवा वक्रोक्ति की व्याख्या कुन्तकाचार्य ने इस प्रकार की है—शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द अर्थ के प्रयोग से भिन्न प्रयोग—'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' (कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित 1.7 की वृत्ति) लोक आदि में प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न शब्दार्थ का प्रयोग 'प्रसिद्ध प्रस्थानव्यतिरेकि वैचित्र्यम्' (कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित 1.18 की वृत्ति) लोक में प्रसिद्ध शब्द-अर्थ के व्यवहार मार्ग को अतिकान्त करने वाला शब्दार्थ का प्रयोग—'अतिकान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः' कुन्तक वक्रोक्ति जीवित 1.19 की वृत्ति

- ख) चारुत्व—प्रवाह में जो स्थान गुण, अलंकार, वक्रोक्ति आदि का है, वही स्थान अनुभूति प्रवाह में औचित्य का है, जिसका रसादि तत्त्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। रस सिद्ध काव्य का प्राण औचित्य ही है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर पर हारादि आभूषण उनके बाह्य सौन्दर्य के प्रसाधक होते हैं, किन्तु सत्य, शीलत्वादि गुण आभ्यन्तर सौन्दर्य के प्रकाशक होते हैं, उसी प्रकार काव्य शरीर में औचित्य की भी आन्तरिक तथा अविनश्वर सत्ता है। काव्य में गुण, अलंकार, रीति, रस आदि उसी स्थिति में चमत्कार अथवा रमणीयता उत्पन्न करने में समर्थ हैं, जबकि उनका प्रतिपादन औचित्य पूर्ण ढंग से किया गया हो। औचित्य के अभाव में कवि उपहास और निन्दा का पात्र होता है। काव्य में औचित्य की इस महत्वपूर्ण स्थिति को दृष्टिगत करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि 'अलंकार तो अलंकार ही हैं, और गुण गुण ही हैं, परन्तु रस—सिद्ध काव्य का अविनाशी जीवित तो औचित्य ही है—

अलंकारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा ।

औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यजीवितम् ।।

(क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा कारिका 5)

वस्तुतः औचित्य काव्य का महत्वपूर्ण तत्त्व है, जो काव्य के प्रत्येक अंग में व्याप्त रहता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस तथ्य की ओर सदा दृष्टि रखी है कि विभिन्न तत्त्वों का विनियोजन औचित्य से युक्त होने पर काव्य में सौन्दर्य का आधायक होता है। जिस प्रकार लोक में औचित्य से युक्त व्यवहार एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि करता है तथा व्यवहार के अनौचित्य से वही व्यक्ति अनादर तथा

हास्यास्पदता का भागी होता है, उसी प्रकार काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति आदि तत्त्व उसी अवस्था में चमत्कार, रमणीयता या सौन्दर्य के उत्पादक होते हैं, जब कि उनका विनियोजन औचित्यपूर्ण होता है। औचित्य के अभाव में कवि उपहास और निन्दा का पात्र होता है। उन्होंने कहा है कि अलंकार तभी अलंकार होते हैं, जबकि वे औचित्य से च्युत नहीं होते—

उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।

औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।।

(क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा कारिका 6)

आचार्य क्षेमेन्द्र का अभिमत है कि औचित्य काव्य के प्रत्येक अंग में होना चाहिये। काव्य में जिस स्थान पर औचित्य का अभाव होता है, वहीं रस का भङ्ग होकर अरुचि उत्पन्न होती है। सौन्दर्य की भावना इसी औचित्य पर आधारित है। यदि कोई सुन्दरी तरुणी कण्ठ में मेखला पहल ले, नितम्बों पर हार धारण कर ले, हाथों में नूपुर पहन ले और चरणों में केयूर डाल ले, तो कौन उसका उपहास नहीं करेगा? इसी प्रकार यदि कोई वीर पुरुष विनम्र शरणागत पर तो वीरता दिखावे तथा शत्रु पर करुणा को प्रदर्शित करे तो कौन उसका उपहास नहीं करेगा? यही स्थिति काव्य में है, जिसमें कि औचित्य के अभाव में न तो अलंकार और ना ही गुण रमणीयता तथा रोचकता के उत्पादक होते हैं—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा

पाणौ नूपुराबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।.....(औचित्यविचारचर्चा—6 की व्याख्या से ।)

केवल अलंकार और गुण ही नहीं अपितु रस भी काव्य में तभी रमणीयता उत्पन्न करता है, जबकि उसका विन्यास औचित्य से पूर्ण होता है।

अभ्यास प्रश्न—

इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।

